॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१२८

संस्कृत नाट्यसिद्धान्त

लेखक

डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच्० डी०

भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष :

युवराजदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर, खीरी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६९

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASA GRANTHAMALA
128

SAṂSKṚTA NĀṬYASIDDHĀNTA

(Principles of Sanskrit Dramaturgy)

BY
DR. RAMĀKĀNTA TRIPĀṬHĪ, M. A., Ph. D.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1969

परमश्रद्धेय गुरुवर्य

डॉ० सत्यव्रत सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग एवं डीन, फैकल्टी ऑफ आर्ट्स,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

के

कर-कमलों में सादर, सविनय

समर्पित

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।'

'वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।।'

अवतरणिका

ईश्वर ने मानव-हृदय में असंख्य भावनाओं को भर दिया है। मानव अथक परिश्रम करके एवं तदुपरान्त महती सफलता का आलिङ्गन करके भी सन्तुष्ट नहीं होता। विद्वानों ने इस अनवरत संघर्ष को कभी न शान्त होने वाली पिपासा की संज्ञा से अभिहित किया है। यह तृष्णा कभी नष्ट नहीं होती। जब हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, तब हमें इसके मूल में एक ही कारण दिखायी पड़ता है, और वह कारण है—आनन्द। मानव इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए अनवरत कर्म किया करता है। इस आनन्द के दो भेद हैं—लौकिक और अलौकिक। एक परीक्षार्थी को, अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह आनन्द लौकिक है। अलौकिक आनन्द में मनुष्य को अपने स्वत्व का ज्ञान नहीं रहता। इस आनन्द का वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। इसीलिए इसकी उपमा गूंगे के गुड़ से दी जाती है। इस अलौकिक आनन्द को भी दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—ब्रह्मानन्द और साहित्यिक आनन्द। *साहित्यिक आनन्द की उपलब्धि काव्य से होती है।* ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किए जाते हैं। श्रव्य काव्य के भी दो भेद हैं—नाट्य और नृत्त।

प्रस्तुत 'संस्कृत नाट्यसिद्धान्त' प्रबन्ध में नाट्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में रूपक और उसके भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डाला गया है। भरत, धनञ्जय और विश्वनाथ ने रूपक के दस भेद माने हैं। काव्यानुशासनकार और नाट्यदर्पणकार के अनुसार रूपक के बारह भेद हैं। काव्यानुशासनकार रूपक के दस भेदों में नाटिका और सट्टक को भी जोड़ते हैं। यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपक को किसी निश्चित सीमा में नहीं बाँधा है, फिर भी वे शक्ति, सामर्थ्य के आधार पर रूपक के बारह हो भेद मानते हैं। 'नाट्य' की विवेचना करने के उपरान्त इस अध्याय के अन्त में रूपक के अन्य भेदों की विवेचना की गयी है।

द्वितीय अध्याय में नाटकीय तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। अर्थ-प्रकृति के सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का मत अन्य विद्वानों से भिन्न है।

इन्होंने अर्थ-प्रकृति को 'उपाय' की संज्ञा प्रदान की है। इनके अनुसार अर्थ प्रकृति के दो भेद हैं—जड रूप और चेतन रूप। यह जड रूप उपाय भी दो वर्गों में विभक्त है—बीज और कार्य। इसी प्रकार चेतन रूप फलोपाय के भी दो भेद हैं—मुख्य और सहकारी। इस 'सहकारी' के भी दो भेद हैं—स्वार्थसिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक और स्वार्थ निरपेक्ष रूप से परार्थ का साधक। अर्थ-प्रकृति का ऐसा वर्गीकरण नाट्यदर्पणकार के अतिरिक्त अन्य किसी भी विद्वान् ने नहीं किया है। इसी अध्याय में 'संधि' और 'सन्ध्यङ्गों' पर भी प्रकाश डाला गया है। नाट्यदर्पणकार का संधिविषयक मत द्रष्टव्य है।

तृतीय अध्याय में नायक-नायिका भेद, उनके सहायक एवम् अलङ्कारों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में वृत्ति एवम् अभिनय पर प्रकाश डाला गया गया है। वृत्ति का तात्पर्य वह व्यापार है जो जीवन के प्रधान प्रयोजन को सिद्ध करने को सिद्ध करने में सहायता प्रदान करता है। नाट्यदर्पणकार ने 'वृत्ति' को 'नाट्य की माता' बताते हुए लिखा है कि भरत ने जो इसे 'नाट्य की माता' कहा है, वह उपलक्षण मात्र है। वास्तव में वृत्ति अभिनेय व अनभिनेय दोनों काव्यों में हो सकती है। नाट्य अथवा काव्य का ऐसा कोई व्यापार नहीं है, जो वृत्ति से शून्य हो। वृत्ति के चार भेद हैं,—भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी। वैसे तो समस्त व्यापार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, फिर भी चारों वृत्तियों के परस्पर सङ्कीर्ण होने पर भी तत् तत् अंश की प्रधानता की दृष्टि से चार प्रकार की वृत्तियां कही गई हैं।

साक्षात्कारात्मक रूप से अभिनेतव्य अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकों के पास पहुँचाया जाता है, 'अभिनय' कहलाता है। अध्याय के अन्त में अभिनय के चारों भेदों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का पाँचवाँ अध्याय अन्य अध्यायों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में रस-विवेचन प्रस्तुत है। नाट्यदर्पणकार की रस-सम्बन्धी मान्यता द्रष्टव्य है। नाट्यदर्पणकार शंकुक के अनुमितिवाद से प्रभावित हैं। पुनश्च इनके विचार से अभिनेता को भी अभिनय करते समय रसास्वाद हो सकता है। इनके अनुसार रसानुभूति के पाँच आश्रय हैं—अनुकार्य राम, अनुकर्ता नट, नाटक का अध्ययन करने वाला, नाटककार कवि और सामाजिक। इन्होंने रस को दो वर्गों में विभाजित किया है—सुखात्मक

और दुःखात्मक। शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्‌भुत एवं शान्त रस सुखात्मक हैं। इसके विपरीत करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रस दुःखात्मक हैं।

प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में रस-भेद की विवेचना की गई है। शान्त रस पर प्रकाश डालने के उपरान्त अन्य आठ रसों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

अन्त में मैं इस प्रबन्ध के निर्देशक डा० अतुलचन्द्र बनर्जी, संस्कृत विभागाध्यक्ष, गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर सत्परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया है। मैं चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी के संचालकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इसे प्रकाशित कर सभी के लिए सुलभ कर दिया है।

विदुषामनुचरः—
रमाकान्त त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

संस्कृत

नाट्यसिद्धान्त

प्रथम अध्याय

रूपक विचार

साहित्यशास्त्र मे ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर काव्य के दो भेद बताये गये हैं—दृश्य एवं श्रव्य। रूपक का सम्बन्ध काव्य के प्रथम भेद से है। 'रूप्' धातु मे 'ण्वुल्' प्रत्यय के योग से 'रूपक' शब्द की निष्पत्ति हुई है। यत्र-तत्र 'रूप' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु इन दोनों शब्दों मे प्रत्यय भेद के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त दोनो शब्द साहित्य मे नाट्य के वाचक हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से ही 'रूप' एवं 'रूपक' नाट्य के अर्थ मे प्रयुक्त होते आये हैं। नाट्यशास्त्र[1] मे ही 'दशरूप' शब्द नाट्य की दस विधाओ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दशरूपक[2] मे रूपक को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि रूप का आरोप होने के कारण नाट्य को रूपक की संज्ञा प्रदान की जाती है। विश्वनाथ[3] ने भी दशरूपककार के ही शब्दो को यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ दुहराया है। इनके अनुसार रूपक में अवस्थाओ की अनुकृति के साथ-साथ रूप का भी आरोप होता है। नाट्यदर्पणकार[4] के अनुसार रूपित किये जाने के कारण ही नाटक आदि को रूप अथवा रूपक की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। नाटक आदि रूप वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयो के द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। इन रूपको के प्रदर्शन में आङ्गिक अभिनय का विशेष महत्त्व है[5]।

---

१. दशरूपविधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः। (नाट्यशास्त्र)

२. रूप दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपात्।

(दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ७)

३. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयम् तद्रूपात्तुरूपकम्॥

(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ३७१)

४. रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि।(नाट्यदर्पण,पृ० २३)

५ This physical action is absolutely demanded on the stage and it will be found that those plays which most frankly embrace the physical action are likely to be most popular.

(A. Nicoll—Theory of Drama—P. 72. 11. 26–29)

रूपको की सख्या के सम्बन्ध मे आचार्यों मे अनेक मत-मतान्तर हैं। यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' मे रूपक के दस भेद बताये गये हैं, तथापि भरतमुनि ने दस शुद्ध रूपको के निरूपण के साथ ही साथ नाटक तथा प्रकरण के सकर से जन्य दो अन्य सकीर्ण रूपको का भी उल्लेख किया है—

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेद प्रयोक्तृभिर्ज्ञेय ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटी सज्ञाश्रिते काव्ये ॥

(नाट्यशास्त्र १८, ५७)

यद्यपि श्लोक का अर्थ कुछ अस्पष्ट है, तथापि यह आशय प्रकट होता है कि नाटक और प्रकरण के योग से 'नाटी' और 'प्रकरणी' सकीर्ण रूपक उत्पन्न होते हैं। दशरूपककार धनञ्जय 'नाटिका' रूप केवल एक ही सकीर्ण भेद मानने के पक्ष मे है। 'दशरूपक' की व्याख्या करने वाले धनिक ने भी दो सकीर्ण रूपको का खण्डन किया है।[1] इसके लिए वे निम्न तीन कारण उपस्थित करते है—

१—नाटिका तथा प्रकरणी नाम से दो पृथक् पृथक् सकीर्ण रूपको का न तो लक्षण ही किया गया है और न कथन ही।

२—दोनो का एक ही लक्षण मान लेने से दोनो मे कोई भेद नही रह जाता है।

३—प्रकरणी को सकीर्ण रूपक मानने वालों के लक्षण के अनुसार भी प्रकरणी का तिरोभाव प्रकरण मे ही हो जाता है।

काव्यानुशासनकार[2] और नाट्यदर्पणकार ने रूपक के बारह भेदो की

---

१ अत्र केचित्—

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेद प्रयोक्तृभिर्ज्ञेय ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटी सज्ञाश्रिते काव्ये ॥

इत्यम् भरतीय श्लोक 'एको भेद प्रख्यातो नाटिकाख्य , इतरस्त्वप्रख्यात प्रकरणिका सज्ञो, नाटी सज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणा प्रकरणिकामपि मन्यन्ते। तदसत्। उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्। वस्तु रस नायकाना प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकाया। अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षण कृत तत्रायमभिप्राय –शुद्धलक्षणसंकरादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरण सङ्कीर्णाना नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते।

(दशरूपक ३, ४३ की कारिका की टीका)

२ पाठ्य नाटकप्रकरणनाटिकासमवकारेहामृगडिमव्यायोगोत्सृष्टिकाङ्कप्रहसनभाणवीथीसट्टकादि। (काव्यानुशासन, अष्टम् अध्याय, पृ० ३१७)

चर्चा की है। जिस प्रकार धनञ्जय[1] ने दशरूपकों का सम्बन्ध विष्णु के दस अवतारों से जोड़कर अपनी धार्मिक भावना का परिचय दिया है उसी प्रकार नाट्यदर्पणकार[2] ने भी बारह रूपकों का सम्बन्ध 'जिन वाणी' के द्वादश रूपों से जोड़कर अपनी धार्मिक भावना का प्रदर्शन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपकों की संख्या के विषय में अत्यधिक मतभेद है।

नाट्यदर्पणकार ने रूपकों को निश्चित सीमा में नहीं बांधा है। फिर भी अपने ग्रन्थ में इन्होंने बारह रूपकों का वर्णन किया है क्योंकि ये ही रस की परिपक्वता के कारण लोकरञ्जक हैं। इन विद्वानों ने रूपक के अन्य भेदों को महत्त्व नहीं प्रदान किया है क्योंकि इनमें रस-परिपाक उचित मात्रा में नहीं हो पाता है। पुनश्च लेखक अथवा कवि की जिन मार्गों पर श्रद्धा होती है, उन्हीं का वे लक्षण करते हैं। अब हम क्रमशः रूपक के भेदों की विवेचना करेंगे।

नाटक

नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श किया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने नमनार्थक नट् धातु से भी नाटक शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। इन्होंने अभिनवभारती के अठारहवें अध्याय में नाटक-विवेचन के प्रसङ्ग में अनेक स्थानों पर नमन प्रह्वीभाव, नति आदि भावों का नाटक शब्द के साथ सम्बन्ध दिखलाया है।[3] परन्तु नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4] इस व्युत्पत्ति से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार घटादिगण पठित

---

१ दशरूपानुकारेण यस्यमाद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥ (दशरूपक, प्रथम प्रकाश, २)

२ चतुर्वर्गफला नित्यं जैनी वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० २२)

३ नृपतौ नामैव नाटकनाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति।
(अभिनवभारती, १८ अध्याय, पृ० ४१३)

यद्यपि सर्वसूत्रधाराणामर्थो हृदये प्रविष्टो विनेयांश्च विनीतान् करोति।
(अभिनवभारती, १८ अध्याय, पृ० ४१४)

प्रधानं पुरुषार्थं प्रधानविनेयानां, अन्यप्रान्येषां वेदयतोऽवनतिं व्युत्पत्तिं ददाति। तत एव नाटकमुच्यते। (अभिनवभारती, अध्याय १८, पृ० ४१४)

४ अभिनवगुप्तस्तु नमनार्थस्यापि नटेर्नाटक शब्दं व्युत्पादयति, तत्र तु घटादित्वेन ह्रस्वाभावश्चिन्त्यः। (नाट्यदर्पण, पृ० २५)

णट् धातु को कुछ ही विद्वानो ने 'नृतौ' के बजाय 'नतौ' अर्थ मे माना है। घटादिगण पठित धातुओं को मित् संज्ञा होकर ह्रस्व हो जाता है। अतएव ऐसी अवस्था मे नाटक पद मे भी ह्रस्व होकर 'घटक' के समान 'नटक' पद बनना चाहिये। इनके अनुसार उस धातु से नाटक शब्द नही बन सकता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार ने अभिनवगुप्त की व्याख्या पर जो आपत्ति की है, वह घटादिगणस्थ नट् धातु को नत्यर्थक मानने पर ही बन सकती है। पुनश्च अभिनवगुप्त केवल नमनार्थक धातु से ही नही अपितु नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की व्युत्पत्ति मानते हैं।[1] फिर यह भी सम्भव है कि अभिनवगुप्त केवल उसी स्थल पर 'नट नतौ' पाठ मानते हो, अन्यत्र नही। ऐसी दशा मे उनकी व्युत्पत्ति मे कोई दोष नही होगा।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार नर्तनार्थक नट् धातु से नाटक शब्द बना है[2]। यही मत समस्त विद्वानों को मान्य है।

यही नाट्यरूप भी कहलाता है। इसी को 'रूपक' की भी संज्ञा प्रदान की गई है। जैसे रूपक अलंकार मे मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है, वैसे ही नटपद रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप कर दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि एक ही अर्थ मे नाट्य, रूप तथा रूपक इन तीन शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

नाट्य को दृश्य काव्य भी कहा जाता है। दृश्य काव्य अभिनयार्थ लिखा जाता है, इसीलिए इसे *'अभिनेय काव्य'* की भी संज्ञा प्रदान की गई है। इसमे नट, रामादि का स्वरूप धारण करके अभिनय करते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस नाट्य को विविध संज्ञाओं से अभिहित किया गया है।

सम्पूर्ण त्रैलोक्यभावो का अनुकरण नाट्य है[3]। धनञ्जय ने भी दशरूपक के प्रारम्भ मे 'अवस्था का अनुकरण नाट्य है' बताया है[4]। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार, कवि तथा आलोचक ड्राइडेन ने भी नाटको को मानव प्रकृति और

---

१. नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोल्लासनया हृदयं 'शरीरं च'''नर्तयति'''नाटकम्'।

(अभिनवभारती, १८ अध्याय, पृ० ४१२)

२. नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम्। (नाट्यदर्पण, पृ० २५)

३. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यभावानुकीर्तनम्।

(भरतनाट्यशास्त्र १, १०४)

४. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। (दशरूपक, प्रथम प्रकाश)

मानव जीवन का सजीव प्रतिबिम्ब माना है। इनके अनुसार नाटक मानव-प्रकृति का सच्चा तथा सजीव प्रतिबिम्ब है। उसमे जीवन की चित्तवृत्तियों तथा लालसाओ का समावेश रहता है[1]। यूनानी आलोचक अरस्तू का भी यही मत है[2]।

नाट्यदर्पणकार ने नाटक का निम्नस्वरूप प्रस्तुत किया है—

ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्।
साङ्कोपायदशासन्धि, दिव्याङ्गं तत्र नाटकम्॥[3]

नाटक में प्रसिद्ध भूतकालीन नेता के चरित्र का वर्णन रहता है। वर्तमान चरित्रो का अभिनय नाटक लक्षण के विरुद्ध है। नाटक की रचना प्रसिद्ध चरित्रो के ही आधार पर होती है। वतमान चरित्र इस श्रेणी मे नहीं आते हैं। अतएव वर्तमान चरित्रो का अभिनय करना सगत नही है। पुनश्च नाटक का नेता वर्तमान होने पर तत्कालप्रसिद्धि की बाधा से रसहानि हो सकती है और पूर्वमहापुरुषो के चरितो म अश्रद्धा भी[4]।

वर्तमान चरित का अभिनय करने से नाटक के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि भी नही हो सकती है। सम्भव है कि सामाजिकगण वर्तमानकालीन नेता के प्रति राग एव द्वेष आदि भाव रखते हो, अत उन्हे उस नाटक मे कुछ भी आनन्द नही आयेगा। क्योकि ऐसी दशा में सामाजिकों का सम्यक् प्रकार से तन्मयीभाव नही हो पायेगा। सामाजिकगण कान्तासम्मत उपदेश को भी ग्रहण नही कर पायेंगे। अत वर्तमानकालीन नेता के चरित का न निबन्धन करना ही नाट्य की सफलता के लिए श्रेयस्कर है।

सामान्य रूप से कर्मों का फल तत्काल ही नहीं मिल जाता है। किञ्चित् समय क व्यतीत होने पर ही फल प्राप्ति सम्भव है। वर्तमानचरित के अभिनय मे यदि धम आदि कर्मों का फल उसी समय दिखलाया जाय तो अभिनय व्यर्थ है[5]। पुनश्च भविष्यकालीन नेता का भी कोई चरित नहीं होता क्योंकि

---

१ जॉन ड्राइडेन—ऐन एसे आन ड्रैमेटिक पोयजी।

२ पोयटिक्स-II-III

३. नाट्यदर्पण, पृ० २५

४ वर्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धि बाधया रसहानि स्यात्, पूर्वमहापुरुषचरितेषु च अश्रद्धान स्यात्। (नाट्यदर्पण, पृ० २५)

५ दशरूपक—लक्षणयुक्तिविरोधात्। तत्र हि किञ्चिद् प्रसिद्धचरितं, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते। न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयाना तत्र राग द्वेषमध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरण्यभावात्। वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्मफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम्।
(अभिनवभारती, प्रथम अध्याय)

'चर्यते स्म चरितम्' से अतीत काल का ही बोध होता है। अतएव भविष्य-कालीन नेता के भी चरित का अभिनय असम्भव है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि किसी को यह ज्ञात नही रहता कि भविष्य मे कौन क्या होगा[1]? इस प्रकार उपर्युक्त कारणो से नाटक मे वर्तमानकालीन एव भूतकालीन नेता के चरित का निबन्धन नही करना चाहिए।

नाटक का नायक मृत्युलोक का क्षत्रिय होना चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक नही है कि उसका अभिषेक हो ही चुका हो। राम, जीमूतवाहन एव पार्थ आदि अनभिषिक्त क्षत्रिय नायक के रूप में चित्रित किए जाते है। जो लोग नाटक के नायक को दिव्य कोटि का मानते हैं, उनका मत समीचीन नही है क्योंकि देवताओ के लिए तो अत्यन्त दु साध्य कार्य की भी सिद्धि उनकी इच्छा मात्र से ही हो जाती है। पुनश्च देवताओ के चरितो का अनु-ष्ठान मर्त्यों के लिए अशक्य होने के कारण उपदेशयोग्य नही होता है[2]। नाटयशास्त्र मे नायक के लिए 'दिव्याश्रयोपेतम्' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। अभिनवगुप्त ने इसका अर्थ 'दैवीपुरुष' किया है। काव्यानुशासनकार ने अभिनव-गुप्त के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'दिव्याश्रयोपेतम्' से भरतमुनि का अभिप्राय दैवीपुरुष से नही था। उन्होने इसका प्रयोग 'दैवी सहायता' के अर्थ मे किया था। नाट्यदर्पणकार काव्यानुशासनकार के ही मत को मानने वाले हैं। वस्तुत यही अर्थ है भी सही। अभिनवगुप्त के मत को मानने म जो अड़चनें हैं, उनका दिग्दर्शन ऊपर की पंक्तियो में करा दिया गया है।

भरतमुनि के सिद्धान्त तथा नाटककारों के व्यवहार दोनो के अनुसार नाटकों मे धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एव धीरप्रशान्त इन चारो प्रकार को नायको का चित्रण किया जा सकता है। विश्वनाथ एव शिंगभूपाल आदि विद्वान केवल धीरोदात्त को ही नाटक का नायक मानने के पक्ष मे है, अन्य को नही। परन्तु उनका यह मत समीचीन नही है क्योकि सस्कृत के बहुत से नाटको में धीरललित आदि कोटि के नायक भी पाये जाते हैं। पुनश्च भरत-

---

१ भविष्यतस्तु वृत्त चरितमपि न भवति, चर्यते स्म चरितमित्यतीत-निर्देशात्। (नाट्यदर्पण, पृ० २५)

२ देवताना तु दुरुपपादस्याप्यर्थस्येच्छामात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितम-शक्यानुष्ठानत्वात् न मर्त्यानामुपदेशयोग्यम्, तेन ये दिव्यमपि नेतार मन्यन्ते, न ते सम्यगमसतेति। (नाट्यदर्पण, पृ० २७)

मुनि ने भी धीरोदात्त के अतिरिक्त अन्य कोटि के नायकों को भी नाटक के नायक के लिए उपयुक्त माना है[1]।

नाटक की नायिका दिव्या भी हो सकती है क्योंकि प्रधान मानवरूप नायक के चरित्र मे उसके चरित्र का अन्तर्भाव हो जाता है।

नाटक का चरित स्वबुद्धिकल्पित नही होना चाहिए किन्तु किञ्चित् रञ्जक कल्पना कर लेने पर कोई दोष नही है। नाटक की रूपरेखा के विषय मे विदेशी विद्वान आर० फ्लेक्नो का विचार अत्यन्त सराहनीय है। इनके अनुसार जिस प्रकार एक बहुत अच्छे बिनावट के कपडे की रूपरेखा होती है, उसी प्रकार अच्छे नाटक की रूपरेखा होनी चाहिए। जिस प्रकार सुन्दर कपडे मे न तो गाँठ रहती है, न छीर रहता है और न उसके धागे ही निकले रहते हैं, उसी प्रकार नाटक के सभी भाग सुसंगठित होने चाहिए।...उसकी वस्तु, उसका आकार, उसका रूपरंग, उसकी रञ्जना, उसका वातावरण इन सबमे आकर्षक समन्वय होना चाहिए[2]। नाटक अङ्क, उपाय, दशा और सन्धियो से युक्त रहता है। मानव स्वभावो के आधार पर ही नाट्य की रचना की जाती है। इसीलिए लोग अपने-अपने कार्यों मे संलग्न रहते हुए भी अपने-अपने शिल्प, व्यवसाय आदि से सब कुछ नाट्य मे पा सकते है। इसीलिए कामुक, विदग्ध, सेठ, विरागी एवं शूर आदि सभी नाटक मे आनन्द प्राप्त करते हैं। कथा आदि से द्वारा भी श्रोतागण आनन्दित होते हैं परन्तु अङ्क, उपाय, सन्धि आदि वैचित्र्य के अभाव के कारण कथा आदि उतने रञ्जक नही हैं, जितना कि नाट्य।

संस्कृत नाटक—राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नही—ऐसा उपदेश परक होता है। मनोरञ्जन तो नाट्य का बाह्य

---

१. ये तु 'नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव' प्रतिजानते, न ते मुनिसमयाध्यवगाहिन.; नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकाना दर्शनात्, कविसमयबाह्याश्च। (नाट्यदर्पण, पृ० २६)

Such a limitation imposed by this school is untenable, for this view contradicts an explicit statement of Bharata that the dominant quality of a hero of a nataka may be either Udatta, Uddhata lalita or santa

(Dr S N. Shastri—The Laws and Practice of Sanskrit Drama, P. 4.

२. आर० फ्लेकनो—डिसकोर्स ऑफ दी इंग्लिश स्टेज

और दृष्टफल है। परन्तु विदेशी नाटककार खुल्लमखुल्ला सुधार की भावना फैलाने के विरोधी हैं। इन्होंने आनन्द को ही प्रथम स्थान दिया है, सुधार को गौण। यही भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य सस्कृति मे अन्तर है। पाश्चात्य सस्कृति के अनुसार नाटको मे नैतिक शिक्षा स्पष्ट न होकर अव्यक्त रहनी चाहिए। पुनश्च इनके अनुसार नाटक मे स्पष्ट शिक्षा से उसकी रोचकता कम होती है[1]।

परन्तु जहाँ तक आदर्शवाद के प्रचार का प्रश्न है, यूनानी तथा अंग्रेजी नाटककार भी सस्कृत नाटककारो से सहमत हैं। यूनानी तथा अग्रेजी नाटककार भी आदर्शवाद का प्रचार, आनन्द तथा सुधार की भावना द्वारा करते हैं।

प्रकरण

नाट्यदर्पणकार के मतानुसार प्रकरण उसे कहते हैं, जहाँ नेता, फल वा आख्यान वस्तु व्यस्त रूप से या समस्तरूप से कल्पित होते हैं[2]। इसका नाटक से मुख्य भेद कथावस्तु के स्वरूप के विषय मे है। नाटक की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है, जब कि प्रकरण की कथावस्तु मे कल्पना का प्राधान्य रहता है। नाटक और प्रकरण का दूसरा भेद यह है कि नाटक राजचरित पर अवलम्बित होता है। इसके विपरीत प्रकरण वणिक्, विप्र अथवा सचिव के चरित्रो के आधार पर निर्मित होता है। पुनश्च नाटक मे दिव्य पात्र भी नायक के सहायक के रूप मे उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु प्रकरण में दिव्य पात्रो का प्रवेश नही हो सकता है। दिव्य पात्र सुखप्रधान होते हैं, जब कि प्रकरण के पात्र दुखाद्य होते हैं। इसीलिए इसमे दिव्य पात्रो का प्रवेश उचित नहीं माना गया है।

सचिव धीरोदात्त नायक माना जाता है एव विप्र तथा वणिक् धीरप्रशान्त कोटि मे आते हैं। अतएव प्रकरण का नायक धीरोदात्त भी हो सकता है एव धीरप्रशान्त भी[3]। प्रकरण मे कञ्चुकी प्रभृति भृत्यवर्ग पात्रो का निवन्धन नही किया जाता है क्योंकि इसमें राजवर्ग का अभाव रहता है। कञ्चुकी के स्थान

---

१. डिक्विन्सी—मिल्टन वर्सस साउदे ऐण्ड लैण्डार

२. प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा व्यस्त-समस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्। (नाट्यदर्पण, पृ० १०३)

३. अयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यपात्रयपि धीरोदात्त-धीरप्रशान्तो प्रकरणे नेतारौ भवत । (नाट्यदर्पण, पृ० १०३)

पर दास, अमात्य के स्थान पर श्रेष्ठी एवं विदूषक के स्थान पर विट का निबन्धन रहता है। इसमें दुःख दीप्त रहता है[1]।

नायक, वस्तु व फल के कल्पित एवं अकल्पित होने से प्रकरण के सात भेद होते हैं —

१—नायक कल्पित होता है, शेष दो अकल्पित होते हैं।
२—फल कल्पित होता है, शेष दो अकल्पित होते हैं।
३—कथावस्तु कल्पित होती है, अन्य दो अकल्पित होते हैं।
४—नायक और फल कल्पित होते हैं, कथावस्तु अकल्पित होती है।
५—नायक और वस्तु कल्पित होते हैं, फल अकल्पित होता है।
६—फल और वस्तु कल्पित होते हैं, नायक अकल्पित होता है।
७—नायक, वस्तु और फल सभी कल्पित होते हैं।

प्रकरण मे गार्हस्थ्योचित पुरुषार्थसाधव वृत्त मे कुलजा स्त्री को नायिका के रूप मे चित्रित किया जाता है। इसके विपरीत जहाँ गार्हस्थ्य धर्मोचित पुरुषार्थ का वर्णन न हो वहाँ वेश्या को नायिका के रूप मे चित्रित किया जाता है। यदि नायक 'विट' हो तो कुलजा एवं वेश्या दोनो ही का नायिका के रूप मे निबन्धन हो सकता है। परन्तु प्रधानता वेश्या की ही होती है। इस प्रकार नायिका के विचार से प्रकरण को फिर दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध प्रकरण में नायिका या तो कुलजा होती है या वेश्या। अशुद्ध प्रकरण मे दोनो प्रकार की नायिकाओं का सकर होता है। इस प्रकार प्रकरण के इक्कीस भेद हुए—चौदह शुद्ध एवं सात अशुद्ध।

रसार्णवसुधाकर मे प्रकरण के तीन भेद गिनाये गये हैं—शुद्ध, धूर्त और मिश्र[2]। शुद्ध प्रकरण के उदाहरण रूप में 'मालतीमाधव' का नाम लिया गया है क्योंकि इसकी नायिका कुलस्त्री है। 'कामदत्ता' को धूर्त प्रकरण की कोटि

---

१ प्रकरण वणिग् विप्र-सचिव-स्वाम्यसङ्करात्।
मन्दगोत्राङ्गन दिव्यानाश्रित मध्यचेष्टितम्॥
दासश्रेष्ठि विटैर्युक्त, क्लेशाढ्य। (नाट्यदर्पण, पृ० १०४)

२ तत्तु प्रकरण शुद्ध धूर्त मिश्र च तत् त्रिधा॥ २१५॥
कुलस्त्री नायिक शुद्ध मालतीमाधवादिकम्।
गणिका नायिक धूर्त कामदत्ता ·· ··· ··॥ २१६॥
धूर्त शुद्ध क्रमोपेत तन्मृच्छकटिकादिकम्।
(रसार्णवसुधाकर, तृतीय विलास)

मे रखा गया है क्योंकि इसकी नायिका गणिका है एव मृच्छकटिक को मिश्र प्रकरण की कोटि मे रखा है। क्योंकि इसमें दोनो प्रकार की नायिकाओ का समावेश है। किन्तु 'रसार्णवसुधाकर' और 'नाट्यदर्पण' के भेदो मे तत्वत कोई अन्तर नही है। 'रसार्णवसुधाकर'का मिश्र प्रकरण,'नाट्यदर्पण'का अशुद्ध प्रकरण ही है। पुनश्च इसके 'शुद्ध' और 'धूर्तभेदो' का 'नाट्यदर्पण' के प्रथम भेद मे ही अन्तर्भाव हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकार का प्रकरण फल, अङ्क, उपाय, दशा, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, प्रवेशक, विष्कम्भक, अङ्कावतार, अङ्कमुख, चूलिका, वृत्तिभेद एव रस आदि मे नाटक के समान ही होता है। क्लेश का प्राचुर्य होने से इसमे कैशिकी वृत्ति की प्रधानता नही पायी जाती है[1]। यथा मृच्छकटिक आदि प्रकरण मे कैशिकी वृत्ति का अधिक प्रयोग नही किया गया है।

प्रकरण मे नायक के वृत्त के अनुसार ही सामाजिक व्युत्पाद्य होते हैं। इसमे वणिक्, अमात्य एव विप्र आदि के उचित धर्म अर्थ एव कामरूप त्रिवर्ग की प्राप्ति, इसको प्राप्त करने के लिए अपेक्षित स्थिरता एव धैर्य आदि, आपत्ति काल मे मूढ़ता, कुलस्त्रियो का आचार, वेश्याओ के भली प्रकार सम्भोग का चातुर्य, हृदय को वश मे करने के प्रयोग, नायक–नायिकाओ के परस्पर अपराग के कारण, चतुर नायक तथा उत्तम, मध्यम एव अधम प्रकृति की नायिकाओं के स्वरूप का और सामादि उपायो के प्रयोग का उपदेश सामाजिको को दिया जाता है।

नाटिका

'नाटिका' शब्द नटनर्तने धातु से बना है। 'नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्यमनासीति' इस विग्रह में अच् प्रत्यय करके 'षिद्गौरादिभ्यश्च' सूत्र मे गौरादिगण के आकृतिगण होने से ङीप् प्रत्यय होने पर 'नाटी' यह पद सिद्ध होता है। यह नाटी पद नाटिका का पर्यायवाची शब्द ही है। नाटी पद से अल्पार्थ मे कप् प्रत्यय करके 'नाटिका' पद की सिद्धि की जाती है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे 'नाटिका' का उल्लेख 'नाटी' नाम से किया है। इनके अनुसार 'नाटी' की उत्पत्ति 'नाटक' और 'प्रकरण' के योग से हुई है। अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के 'नाटी' सम्बन्धी लक्षणो की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य के अनुसार नाटिका मे दो नायिकाएँ होनी चाहिए—प्रथम स्वकीया और दूसरी उच्चकुल की सुन्दरी।

१. शेषं नाटकवत् सर्वं कैशिकी पूर्णता विना। (नाट्यदर्पण, पृ० १०५)

नाट्यदर्पणकार के अनुसार नाटिका चार अङ्को की होती है। इसमे स्त्री पात्रो की बहुलता के साथ शृगार रस की प्रधानता होती है। अतएव कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से इसमे गीत, नृत्त, वाद्य और हास्य आदि शृगार के अङ्गो की प्रचुरता रहती है। इसमे शृङ्गार के अङ्गभूत अन्य धर्मों का भी बार-बार निबन्धन किया जाता है।

इसका नायक धीरललित होता है, अतएव सर्वत्र राजोचित व्यवहार का प्रदर्शन किया जाता है। स्त्री पात्रो मे देवी, दूती, सखी, चेटी एव कन्या आदि का समावेश रहता है। कन्या और देवी एक साथ ही इस रूपक की नायिका होती हैं। 'देवी' को वयोवृद्धा, मानिनी, दक्षा एव चतुरा के रूप मे चित्रित करना चाहिए। कन्या को मुग्धा एव अपूर्व सुन्दरी के रूप म प्रदर्शित करना चाहिए। क्षत्रियवशजत्व, नय, विनय, लज्जा, महत्त्व एव गम्भीर्य आदि धर्म दोनो मे चित्रित किए जाने चाहिए। कन्या के प्रति अनुराग को जान लेने पर देवी' राजा के प्रति क्रोध का प्रदर्शन करती है। राजा उसको प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। राजा और कन्या परस्पर रति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार नाटिका मे शृङ्गार रस के अङ्गो का बार-बार निबन्धन किया जाता है।

कन्या और देवी के प्रसिद्ध एव अप्रसिद्ध होने से नाटिका के चार भेद होते हैं—

१—देवी अप्रसिद्धा, कन्या प्रसिद्धा।

२—देवी अप्रसिद्धा, कन्या अप्रसिद्धा।

३—देवी प्रसिद्धा, कन्या अप्रसिद्धा।

४—देवी प्रसिद्धा, कन्या प्रसिद्धा[1]।

नाटिका के अन्त मे मुख्य नायिका द्वारा अन्य कन्या के साथ योग कराना चाहिए। इसका फल स्त्रीलाभपूर्वक राज्यप्राप्ति है।

प्रकरणी

'प्रकरणी' नाटिका के ही लक्षणो से युक्त होती है किन्तु इसका नायक 'प्रकरण' के नायक की तरह होता है। अतएव वणिक् आदि के उचित ही वेष एव सम्भोग आदि का व्यवहार पाया जाता है। प्रकरणी मे जिस कोटि का नायक होता है, उसी कोटि की नायिका भी होती है। इसका फल भी

---

१ ख्याताख्यातित कन्या देव्योर्नाटी चतुर्विधा। (नाट्यदर्पण, पृ० १०६)

नायक के वणिक् आदि जाति का होने से पृथ्वीलाभ आदि नही होता है अपितु स्त्रीप्राप्तिपूर्वक द्रव्यादि लाभ इसका फल है[1]।

व्यायोग

व्यायोग की कथावस्तु ख्यात होती है। इसका नायक अदिव्य भूपति हुआ करता है। नायिका का निवन्धन न होने के कारण इसमे दूती आदि का भी अभाव पाया जाता है। स्त्रीपात्रो के अभाव के कारण कैशिकी वृत्ति का भी अभाव रहता है। इसमे पुरुष पात्रो का ही बाहुल्य रहता है। इसमे अस्त्रीनिमित्तक सग्राम के साथ ही साथ बाहुयुद्ध का भी प्रदर्शन होता है। एक दिन की घटना का उल्लेख होने से इसमे एक ही अङ्क होता है।

रौद्र एव वीर आदि रसप्रधान नायक से युक्त होने के कारण ही इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियो का निषेध किया गया है। दीप्त रसवाला नायक कालक्षेप को सहन नहीं कर सकता है। अतएव काम बिगड जाने के डर से कालक्षेप किये बिना प्रारम्भ और प्रयत्न रूप दो अवस्थाओ के अनन्तर ही फल को प्राप्त करने का यत्न करता है। इसीलिए इसमे गर्भ तथा विमर्श सन्धियो का अभाव रहता है।

व्यायोग मे वीर और रौद्र रस ही अङ्गी रूप मे निबद्ध किए जाते हैं, अतएव गद्य और पद्य ओज गुण से युक्त रहते हैं।

समवकार

कही मिले हुए और कही बिखरे हुए त्रिवर्ग के पूर्व प्रसिद्ध उपायो के द्वारा जिसको किया अर्थात् बनाया जाता है वह 'समवकार' कहलाता है। कहने का तात्पर्य है कि समवकार शब्द सम अव उपसर्गपूर्वक कृ धातु से निष्पन्न होता है[2]।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार समवकार की *कथावस्तु बृहत्कथा आदि* से ली जाती है। देव और दैत्य इसके नायक हुआ करते हैं। धनञ्जय, रामचन्द्र गुणचन्द्र एव शारदातनय के मतानुसार समवकार के नायक उदात्त चरित्र वाले देवता और दानव होते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने धीरोदात्त देवता और मनुष्य को इसका नायक माना है। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर विश्वनाथ का मत सगत नही प्रतीत होता है। ये प्रारम्भ में इस मत से सहमत हैं कि समवकार का इतिवृत्त देव-दानव से सम्बन्ध

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १०८

२ *सङ्गतैरवकीर्णैश्चार्थे त्रिवर्गोपायै पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति* समवकार। (नाट्यदर्पण, पृ० १०९)

रखता है। ऐसी अवस्था मे दानव के स्थान पर मानव-पात्र का नियोजन सगत नही है।

इन नायकों की सख्या बारह होती है। द्वादश नायको की सख्या का उपादान दो प्रकार से किया गया है। प्रथम मत में समवकार के प्रत्येक अङ्क मे बारह नायक होते हैं। द्वितीय मत के अनुसार समवकार के प्रत्येक अङ्क मे चार-चार नायक होते हैं। इस प्रकार तीनो अङ्को मे मिलाकर बारह नायक हो जाते हैं। इन बारह नायको के फल अलग-अलग वर्णित होते हैं। यथा 'पयोधिमन्थन' मे विष्णु और बलि आदि नायको के लक्ष्मी-प्राप्ति आदि रूप अलग-अलग फल दिखाए गए हैं।

तीन दिन की घटना का वर्णन होने से इसमे तीन अङ्क होते हैं। इसमें तीन शृगार, तीन कपट और तीन विद्रवो का वर्णन किया जाता है। धर्म, काम और अर्थ जिसके फल तथा हेतु हैं वह तीन प्रकार का शृगार होता है। पत्नी-सयोगरूप शृगार का परदारवर्जन रूप धर्मफल होता है एव दानादि रूप धर्म उस स्त्री (स्वपत्नी) के लाभ का हेतु होता है। काम शृगार में स्त्री पुरुष रूप शृगार का रतिरूप कामफल है और रतिरूप शृगार का स्त्री पुरुषादि रूप कामहेतु है। वेश्यादि को शृङ्गार के द्वारा अर्थरूप फल की प्राप्ति होती है। इसलिए उनका शृङ्गार अर्थफलक होता है। पुरुषो को अर्थ द्वारा शृङ्गार की प्राप्ति होती है, अतएव उनका वेश्या विषयक शृङ्गार 'अर्थहेतुक शृङ्गार' होता है।

विद्रव के निम्न तीन भेद हैं—

(अ) जीवोत्थ—हाथी आदि के द्वारा उत्पन्न विद्रव 'जीवोत्थ' कहलाता है।

(ब) अजीवोत्थ—शस्त्रादिजनित विद्रव 'अजीवोत्थ' की सज्ञा से अभिहित किया जाता है।

(स) जीवाजीवोत्थ—नगरोपरोध आदि के द्वारा उत्पन्न विद्रव 'जीवाजीवोत्थ' की सज्ञा प्राप्त करता है।

सत्य सा प्रतीत होने वाला मिथ्या प्रकल्पित प्रपञ्च कपट कहलाता है। इसके भी तीन भेद हैं। (अ) वञ्च्योत्थ कपट—जहाँ वञ्चनीय पुरुष अपराधी होता है और वञ्चक को धोखा देने की इच्छा होती है, वहाँ 'वञ्च्योत्थ' कपट होता है।

(ब) वञ्चकोत्थकपट—जहा वञ्च्य (जिसको धोखा दिया जा रहा है) के अपराध के बिना ही केवल वञ्चक की वञ्चना बुद्धि से ही कपट होता है, वहाँ 'वञ्चकोत्थ' कपट की प्राप्ति होती है।

(स) दैवोत्थ कपट—जहां तुल्यफल और तुल्य कारण होने पर भी काकतालीयन्याय से अकस्मात् एक की वृद्धि हो जाती है और एक का ह्रास हो जाता है, वहाँ वञ्च्य का अपराध न होने से और वञ्चक में वञ्चना बुद्धि न होने के कारण 'दैवोत्थ' कपट होता है।

समवकार में विमर्शसन्धि को छोड़कर शेष समस्त सन्धियों का उपनिबन्धन होता है। प्रथम अङ्क में मुख और प्रतिमुख, द्वितीय अङ्क में गर्भ और तृतीय अङ्क में निर्वहण सन्धियों का नियोजन होता है। पुनश्च इसमें हास्य सहित संक्षिप्त शृंगार और देवों तथा असुरों के वैर के कारण होनेवाले कपट आदि का वर्णन रहता है। लौकिक युक्तियों से रहित माया, इन्द्रजाल, उछलना कूदना, शत्रु के पुतले आदि गिराना आदि का मुख्यरूप से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार की आरभटी वृत्ति से सम्पादित प्रहसन, कपट, विद्रव आदि सभी कुछ कौतूहलोत्सुक जनता को अत्यधिक आनन्द प्रदान करते हैं।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार नव मुहूर्त में समवकार का प्रदर्शन हो जाना चाहिए। प्रथम अङ्क में छ मुहूर्त, द्वितीय अङ्क में दो मुहूर्त और तृतीय अङ्क में एक मुहूर्त का समय लगना चाहिए।

नाट्यशास्त्र के अनुसार समवकार में उष्णिक और गायत्री छन्दों का प्रयोग उचित है। परन्तु नाट्यदर्पणकार[1] के अनुसार स्रग्धरा एवं शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का ही प्रयोग उचित है। यदि विचार किया जाय तो यही मत तर्कसंगत है। समवकार में वीर और रौद्र रस की प्रधानता रहती है अतएव ओज गुण युक्त छन्दों का ही प्रयोग उचित है। गायत्री आदि अल्पाक्षर छन्दों को प्रयुक्त करने से लम्बे अर्थ का वर्णन करने में कठिनाई होगी। इसलिए स्रग्धरा एवं शार्दूलविक्रीडित आदि ओज गुण युक्त छन्दों का ही प्रयोग संगत है।

भाण

'भाण' रूपक में आकाशोक्ति से नायक अपने या दूसरे के वृत्त को कहता है[2]। इस प्रकार प्रारम्भ में ही इसके निम्न दो भेद हो जाते हैं—

(१) आत्मभूतशंसी-जिसमें नायक अपने अनुभवों का वर्णन करता है।

(२) परसश्रय वर्णन-जिसमें नायक दूसरों के अनुभवों का वर्णन करता है।

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १११

२ भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्त प्रकाश्यतेऽनेति भाण।

(नाट्यदर्पण पृ० ११२)

इसमे विट[1] के अतिरिक्त दूसरा पात्र नही होता है, अतएव उक्ति-प्रत्युक्ति, सम्बोधन एव श्रृङ्गार रस-सूचक सौभाग्य आदि का सन्निवेश इसमे आकाशभाषित से किया जाता है। विट, धूर्त और वेश्या आदि के वृत्त से युक्त यह रूपक साधारण लोगो के मनोरञ्जन का कारण होता है।

इसम शौय और सौभाग्य के वर्णन की अधिकता रहती है। अतएव वी- और शृङ्गार रस का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। कही कही हास्य रस का भी सन्निवेश कर दिया जाता है। गेयपद, स्थित, पाठ्य, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव नामक द्विगूढक, उत्तमोत्तमक, उक्त और प्रयुक्त इन दश लास्याङ्गो का भी प्रयोग इसमें किया जाता है। केवल एक विट ही वेश्या आदि अथवा अपन चरित को आकाशोक्ति के द्वारा, अङ्गविकारो के द्वारा सामाजिक को अवगत कराता है, अतएव वर्णन की अधिकता होने के कारण भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है। वीर एव शृङ्गार रस की प्रधानता होन पर भी वाचिक अभिनय की ही प्रधानता रहती है, सात्विक और आङ्गिक अभिनयो की नही है। क्योकि इसमे आकाशोक्ति स ही वृत्त का कथन होता है।

भावप्रकाशनकार के मतानुसार भाण मे केवल शृङ्गार रस का होना आवश्यक है। इनके अनुसार इसमे अन्य रस का निबन्धन नही होना चाहिए। परन्तु इनका यह मत सगत नही है। यदि भाण म शौर्य का वर्णन होगा, तब तो वीर रस की प्राप्ति स्वाभाविक है। हम यह भी नहीं कह सकते कि इसम शौर्य आदि का वर्णन अनुपयुक्त है, क्योकि आगे चलकर इन्होंने ही इस बात को भी स्वीकार किया है कि भाण की कथावस्तु उद्धत भी हो सकती है। कथावस्तु के उद्धत होने से शौर्य, पराक्रम आदि का वर्णन होना स्वाभाविक ही है। शौर्य आदि का वर्णन होने से वीर रस का भी पाया जाना स्वाभाविक है। अतएव यह कहना कि इसमे शृङ्गार रस का ही प्रयोग आवश्यक है, सगत नही प्रतीत होता है।

भावप्रकाशनकार ने[2] भाषा और कथावस्तु के माध्यम से इसके नौ भेद स्वीकार किए हैं, जो सगत हैं। भाषा भेद के कारण इसके तीन भेद हैं —

(क) शुद्ध—जब केवल सस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता है।

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ११२

२. भावप्रकाश—नवम अधिकार।

(ख) सकीर्ण—जब सस्कृत और प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है।

(ग) विचित्र—जब विभिन्न भाषाओ का प्रयोग होता है।

कथावस्तु के कारण भाण के पुन तीन भेद है—

(क) उद्धत—जब कथावस्तु उद्धत होती है।

(ख) ललित—जब कथावस्तु ललित होती है।

(ग) ललितोद्धत—जब दोनो का समावेश रहता है।

इस प्रकार भाण के निम्न नव भेद हो जाते हैं —

(१) शुद्ध उद्धत (२) शुद्ध ललित (३) शुद्ध ललितोद्धत (४) सकीर्ण उद्धत (५) सकीर्ण ललित (६) सकीर्ण ललितोद्धत (७) चित्र उद्धत (८)चित्रललित (९) चित्रललितोद्धत।

प्रहसन

प्रहसन का विषय केवल हास्य ही होता है। इस रूपक के द्वारा हास्य प्रदर्शित करके मूर्खों और स्त्रियो की नाट्य के विषय मे अभिरुचि उत्पन्न की जाती है। प्रहसन के द्वारा पाखण्डी आदि के चरित को जानकर उनसे विमुख पुरुष फिर इन वञ्चको के निकट नही आते। पात्रो के चित्रण के आधार पर नाट्याशास्त्र मे प्रहसन के दो भेद गिनाए गये हैं—शुद्ध एव प्रकीर्ण। शुद्ध प्रहसन मे भगवत, तापस एव विप्र आदि का चरित्र-चित्रण किया जाता है। प्रकीर्ण प्रहसन मे विभिन्न प्रकार के चरित्रो का चित्रण पाया जाता है[1]। नाट्यदर्पणकार[2] ने भी प्रहसन के दो भेद माने है—शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध प्रहसन मे निन्द्य, पाखण्डी अथवा जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण आदि किसी एक का—जो अश्लीलता और व्रीडाकारिता आदि से रहित वृत्त होता है—वर्णन रहता है एव परिहास प्रधान वचनो का बाहुल्य रहता है। सकीर्ण प्रहसन मे बहुत से चरित्रो का मिश्रण रहता है। इसमे स्वैरिणी, दास, वेश्या, नम्भली, धूर्त, वृद्ध, पाखण्डी, विप्र, भुजग एवं भट आदि पात्र विकृत वेष मे आते हैं और विकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। इन पात्रो का आचार भी विकृत होता है।

---

१. नाट्यशास्त्र—एकविंश अध्याय, १०६–१११

२ निन्द्य-पाखण्डि-विप्रादे अश्लीलासभ्यवर्जितम्।
परिहासवच प्राय शुद्धमेकस्य चेष्टितम्॥
सकीर्णमुद्धताकल्प-भाषाऽऽचार-परिच्छदम्।
बहूना बन्धकी-चेट-वेश्याऽऽदीना विचेष्टितम्॥

(नाट्यदर्पण, पृ० ११३)

आजकल के नाटककारो एव प्रहसन-लेखको को निम्नलिखित विषय अधिक प्रिय लगते हैं :—

(क) गार्हस्थ्य जीवन—(१) पति पत्नी के आपसी झगडे (२) अनमेल विवाह (३) बहुविवाह (४) जेठानी एव ननद आदि के झगडे।

(ख) सामाजिक जीवन—(१) जुआ एवं शराबखोरी (२) वेश्यावृत्ति (३) दम्भ एव कपटपूर्ण व्यवहार (४) आधुनिक फैशनयुक्त जीवन।

(ग) राजनैतिक जीवन—(१) दलबन्दी (२) स्वच्छन्दता एव फूट-नीति आदि।

(घ) आर्थिक जीवन—(१) स्वामी और भृत्य के झगडे (२) धन का गर्व (३) लेन-देन व्यापार।

(ङ) वैयक्तिकजीवन—(१) पेटूपन (२) शारीरिक स्थूलता आदि।

(च) विदूषक—यदि हम अँग्रेजी नाटककारो तथा सस्कृत नाटककारो के प्रहसन सम्बन्धी विषय चयन का अध्ययन करें तो हमे ज्ञात होगा कि इस विषय म दोनो साहित्य मे बहुत कुछ साम्य है। सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ हाथ प्रहसनो के विषय प्रस्तुत करने मे है और यदि हमे कोई खास विषय अंग्रेजी प्रहसनो मे नहीं मिलता तो उसका कारण सामाजिक ही है। उदाहरण के लिए गार्हस्थ्य जीवन के चित्र हमे अँग्रेजी प्रहसनो में नही मिलेंगे अपितु सामाजिक विषयो की प्रचुरता मिलेगी। इसके साथ साथ भारतीय समाज मे प्रहसन के उपयुक्त सामग्री की सीमा नही।[1]

यूनानी तथा अँग्रेजी साहित्यकारो ने भी सस्कृत नाटककारो की तरह प्रहसनो के लिए केवल निम्नकोटि का चरित्र ही उपयुक्त माना है। निस्सन्देह निम्नवर्ग म ही प्रहसन के विषय आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। इस विषय म नाटककार को अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नही पडती है।

अँग्रेजी नाटककारो ने भी प्रहसन म हास्य प्रस्तुत करने के लिये अनेक ऐसे विषय चुने हैं जो सस्कृत के प्रहसनात्मक रूपको से मिलते-जुलते हैं। इन नाटककारों ने प्रहसन के विषयाधारों मे निम्नलिखित विषय फलप्रद माने हैं—

(१) सौन्दर्य, ज्ञान एव धन का गर्व
(२) अनैतिकता आदि मानसिक कुरूपता
(३) भ्रममूलक आशाएँ तथा विचार

---

१ डॉ० एम० पी० खत्री—नाटक की परख, पृ० २५०

(४) अनर्गल वार्तालाप
(५) अशिष्टता आदि
(६) प्रपञ्चयुक्त कार्य तथा अस्वाभाविक जीवन
(७) मूर्खतापूर्ण कार्य
(८) पाखण्ड आदि
(९) शारीरिक स्थूलता आदि
(१०) मद्यपान
(११) विदूषक

इस प्रकार यदि हम विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत और अंग्रेजी नाटक के प्रहसनात्मक दृश्यों मे बहुत कुछ साम्य है।

प्रहसन मे हास्य रस का प्राधान्य होने से लास्याङ्ग का अल्प प्रयोग ही होता है। शृगार रस का निबन्धन न होने से इसमे कैशिकी वृत्ति का भी प्रयोग नही किया जाता है। इसमे केवल भारती वृत्ति ही प्रयुक्त होती है। भाण के समान ही इसमे भी मुख और निर्वहण इन्ही दो सन्धियो का प्रयोग किया जाता है[1]।

प्रहसन का आधुनिक वर्गीकरण

आधुनिक प्रहसनो को चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) परिस्थिति प्रधान—परिस्थिति प्रधान प्रहसनो मे लेखक को अत्यन्त व्यापक स्थलो का चयन करना चाहिए। समाज के किसी विशेष वर्ग से ही सम्बन्धित परिस्थिति का चयन करने से प्रहसन की लोकप्रियता को आघात लग सकता है। लेखक को आत्मानुभव तथा निरीक्षण से ऐसी असगत परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए जिनको देखकर हँसी आ जाये।

(ख) चरित्र प्रधान—चरित्र प्रधान प्रहसन अत्यन्त मर्मस्पर्शी होते हैं क्योंकि इनमे हमारी ही भावनाओं का दिग्दर्शन किया जाता है। इन प्रहसनों मे मानवी भाव ही आधारस्वरूप होते हैं। इसमें पात्र क्रोध, गर्व एव अहकार आदि मानवी भावो मे से एक अथवा दो का प्रतीक होता है।

---

१ हास्याङ्गि भाणमन्ध्यङ्क-वृत्ति। (नाट्यदर्पण, पृ० ११२)
हास्यरसप्राधान्येऽपि अत्र न कैशिकी वृत्ति। भारतीवृत्तिश्चात्र निबन्धनीया। (नाट्यदर्पण, पृ० ११३)

(ग) कथोपकथन प्रधान—इस वर्ग के प्रहसनों में कथोपकथन द्वारा हास्य प्रस्तुत किया जाता है। व्यंग्य-वाण एवं श्लेष का चमत्कारिक प्रयोग कर तथा उपहास का वातावरण उपस्थित कर कथोपकथन प्रधान प्रहसन पर्याप्त मात्रा में लिखे गए हैं।

(घ) विदूषक प्रधान—कथोपकथन द्वारा विदूषक बड़ी सफलता से हास्य का निर्माण करता है। परन्तु आजकल विदूषकप्रधान प्रहसन लोकप्रिय नहीं है।

संस्कृत साहित्य मे अलग से प्रहसन लिखने की साहित्यिक परम्परा ज्ञात नही है। यद्यपि साहित्यिक नाटककारों ने प्रहसन की एक श्रेणी मानी है परन्तु प्रहसन की आधुनिक परिभाषा के अनुसार हमें संस्कृत साहित्य में लिखे हुए प्रहसन दुर्लभ हैं।......संस्कृत साहित्य में प्रहसन की न्यूनता होने का कारण समाज की उन्नत दशा तथा आदर्शवादी नाटक-रचना की परम्परा मालूम होता है। आदर्शवादी रचनाओं मे प्रहसन की कोई उपयोगिता नही और समाज की समुन्नत दशा मे प्रहसन की आवश्यकता ही क्या ?[1]

साहित्यिक रूप से प्रहसन लिखने में पूर्ण सफलता ने फ्रांसीसी लेखकों के ही पैरों को चूमा है। यदा-कदा इनके प्रहसन सुखान्तकी (Comedy) से टक्कर लेने लगते हैं। इसका कारण यह है कि फ्रांसीसी लेखकों ने हास्य-प्रदर्शन के साथ ही साथ चरित्र-चित्रण, चरित्र-विश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन भी किया है।

डिम

डिम शब्द का अर्थ है—डिम्ब या विप्लव। डिम धातु के संघातार्थक होने से विप्लवादि प्रधान रूपक को 'डिम' की संज्ञा प्रदान की जाती है।[2]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का डिम-लक्षण नाट्यशास्त्र के ही लक्षण के समान है। इनके अनुसार डिम का इतिवृत्त पूर्वप्रसिद्ध होता है। यह शान्त, हास्य एवं शृंगार रस से रहित, विमर्श सन्धिविहीन शेष रसों और अन्य सन्धियों से युक्त रहता है। इसमें रौद्र रस का निबन्धन अङ्गीरूप में होता है। चार दिन की घटना का वर्णन होने से इसमें चार ही अङ्क पाये जाते हैं। प्रत्येक अङ्क

---

१. नाटक की परख–पृ० २४२–४३

२. डिमो डिम्बो विप्लव इत्यर्थः, तद्योगादयं डिमः, डिमेः सङ्घातार्थत्वा-दिति। (नाट्यदर्पण, पृ० ११४)

मे एक-एक सन्धियो का नियोजन रहता है। इस रूपक मे प्रथम अङ्क के पात्रों द्वारा ही द्वितीय अङ्क का प्रारम्भ होना चाहिए। इसमे विष्कम्भक एव प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपको का प्रयोग नही करना चाहिए। किन्तु युद्धादि के वर्णन मे चूलिका तथा अङ्कमुख इन दोनो अर्थोपक्षेपको का प्रयोग होता है।

डिम का नायक धीरोद्धत होता है। चार अङ्क वाले इस रूपक के प्रत्येक अङ्क मे चार-चार नायक होने से कुल मिलाकर सोलह नायक माने गए हैं। इन समस्त नायको के विभाव, अनुभाव एव फल आदि का पृथक्-पृथक् ही वर्णन करना चाहिए। सग्राम आदि का वर्णन होने से डिम मे उल्कापात, वज्रपात, सूर्यग्रहण एव चन्द्रग्रहण आदि का वर्णन रहता है।

उत्सृष्टिकाङ्क

जिनकी सृष्टि अर्थात् जीवन उत्क्रमणोन्मुख है, इस प्रकार की शोकग्रस्त स्त्रियो को 'उत्सृष्टिका' की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। ऐसी स्त्रियो की चर्चा करने वाला रूपकभेद 'उत्सृष्टिकाङ्क' कहलाता है[1]।

नाट्यदर्पणकार ने 'उत्सृष्टिकाङ्क' के भी लक्षण मे भरत और धनञ्जय के ही मतो का अनुसरण किया है। इनके अनुसार कोई मर्त्यपुरुष ही इसका नायक हुआ करता है[2]। दु खात्मक करुणरस का प्राधान्य होने के कारण इसमे दिव्य नायक नही होते हैं। क्योंकि दिव्यजनों के सुखप्रधान होने से उनके साथ दु खात्मक करुणरस का सम्बन्ध नही होता है। इसके युद्ध का वृत्त प्रसिद्ध होता है, जो सम्भवत महाभारत आदि से उद्धृत रहता है। धनञ्जय के अनुसार इसकी कथावस्तु तो प्रख्यात ही होती है किन्तु कवि अपनी कल्पना से उसको विस्तृत कर देता है[3]। ख्यात युद्ध का वृत्त होने से इसमे वध एवं बन्ध आदि के कारण इष्टवियोग आदि की प्रचुरता रहती है। अतएव करुण रस की भी प्रधानता स्वाभाविक ही है। शौर्यादि मद से अवलिप्त पात्रो द्वारा वाक्-युद्ध होता है जिनमे परस्पर एक दूसरे के दोषो का वर्णन होता है। इसीलिए भारती वृत्ति की भी प्रधानता रहती है। इसमे भूमि निपातन, शिरस्ताडन एव स्ववक्षस्ताडन आदि नाना प्रकार की चेष्टाओं का प्रदर्शन होता है। वध एव बन्ध आदि के ही कारण स्त्रियो के दैवोपालम्भ, आत्मनिन्दा

---

१. उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं यासा ता उत्सृष्टिका. शोचन्त्यः स्त्रियस्ता-भिरङ्कितत्वादुत्सृष्टिकाङ्क। (नाट्यदर्पण, पृ० ११५)

२ उत्सृष्टिकाङ्क पुस्वामी······। (नाट्यदर्पण, पृ० ११५)

३. उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्त बुद्धया प्रपञ्चयेत्।

(दशरूपक, तृ० प्र०, ७०)

आदि पूर्ण परिदेवना का वर्णन रहता है। इसमे उत्तम और मध्यम पात्रों पर अनेक व्यसनो का पडना दिखाया जाता है। ये पात्र महाविपत्तियों में भी विषादरहित एवं स्थिर रहते हैं। अतएव आपत्ति में मनुष्य को घबडाना नही चाहिए एवं अपने चित्त को स्थिर रखना चाहिए; इस बात की शिक्षा देने के लिए स्त्रियों के विलापादि से पूर्ण कथा प्रस्तुत की जाती है।

एक दिन की घटना का वर्णन होने से इसमे एक ही अङ्क होता है। इसमें मुख और निर्वहण'इन्हीं दो संधियों का नियोजन रहता है। दो ही सन्धियों का वर्णन होने से आरम्भ अवस्था के बाद फलागम का ही प्रदर्शन होता है।

ईहामृग

जिसमे मृग के समान केवल स्त्री के लिए ईहा अर्थात् चेष्टा होती है, वह ईहामृग कहलाता है।[1] इस रूपक मे स्त्री-निमित्तक चेष्टा का वर्णन किया जाता है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात अथवा कविकल्पित होती है। इसका नायक दिव्य कोटि का होता है। यह दस मानव पात्रो से भी युक्त रहता है। कवि आख्यानवस्तु के अनुसार अङ्को की सख्या रखने मे स्वतंत्र है। एक दिन की घटना का वर्णन होने पर एक अङ्क, चार दिन की घटना का वर्णन होने पर चार अङ्क का नियोजन किया जाता है।[2] किन्तु चार अङ्क होने पर उनकी कथा परस्पर सम्बद्ध होनी चाहिए, समवकार के समान असम्बद्ध नही। दिव्य नायक की स्त्री की इच्छा न होते हुए भी, प्रतिनायक उसका अपहरण करता है। अतएव इसमे दिव्या स्त्री के हेतु सग्राम का वर्णन होता है। युद्ध-वर्णन होने मे भेद, दण्ड एव अपहार आदि भी इसके वर्ण्य विषय हैं। इसमें वध की स्थिति को उत्पन्न करके भी वध नहीं कराया जाता है, वरन् किसी बहुत बडी उत्तेजना की स्थिति को लाकर किसी बहाने से युद्ध के टल जाने का प्रदर्शन होता है।

ईहामृग में प्राय बारह नायक होते हैं। इसमे वीर और रौद्र रस का निबन्धन अङ्गी रस के रूप मे किया जाता है। शृङ्गार रस का निबन्धन न

---

१. ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्थेतीहामृग। (नाटयदर्पण, पृ० ११६)

२ ईहामृग सवीथ्यङ्ग, दिव्येशो दशमानव।
एकाङ्कश्चतुरङ्को वा ख्याताख्यानेनियूनवाम्॥
दिव्यस्त्रीहेतुसग्रामः················ (नाटयदर्पण, पृ० ११)

होने के कारण वृत्तियों मे कैशिकी वृत्ति प्रयोज्य नही है। इस रूपक में केवल रत्याभास का ही प्रदर्शन होता है क्योंकि प्रतिनायक नायक की स्त्री मे अनुरक्त रहता है। गर्भ और अवमर्श सन्धियों के अतिरिक्त अन्य सन्धियों का नियोजन रहता है। फलत प्रारम्भ एव प्रयत्न अवस्था के बाद ही फलागम का वर्णन कर दिया जाता है[1]।

वीथी

वक्रोक्ति मार्ग से जाने से वीथी के समान होने के कारण यह 'वीथी' है[2]। यह रूपक भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। इसमे संध्यङ्गों की पक्ति रहती है अतएव इस रूपक को 'वीथी' की सज्ञा प्रदान की जाती है। नाट्यदर्पण कार के अनुसार इसमे उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्रकृति के नायक होते हैं। शकुक अधम प्रकृति को नायक मानने के पक्ष मे नही हैं। किन्तु इनका यह मत युक्तियुक्त नही है क्योंकि एक ओर तो वे कहते हैं कि अधम प्रकृति का नायक नही होना चाहिए एव दूसरी ओर भाण एवं प्रहसन आदि में अधम प्रकृति के विट आदि को ही नायक बनाने का विधान करते हैं। अतएव वीथी मे, जो अधम प्रकृति को भी नायक होने की बात कही गई है, तर्कसंगत है।

इसमे एकदिवसप्रयोज्यवृत्त का प्रदर्शन होने से एक अङ्क होता है। कवि स्वेच्छा से एक या दो पात्रों का प्रयोग कर सकता है। इसमें जब एक पात्र का प्रयोग किया जाता है तब वह आकाशभाषित समन्वित होता है। जब दो पात्रों का प्रयोग किया जाता है, तब कथोपकथन, उक्ति प्रत्युक्ति मे एक विचित्रता होती है। मुख और निर्वहण इन्ही दो सधियों का नियोजन रहता है। फलत आरम्भ अवस्था के बाद फलागम का ही प्रदर्शन होता है। शृङ्गार एव हास्य का अल्पमात्रा मे निबन्धन होने से कैशिकी वृत्ति का भी अभाव रहता है।

पूर्वोक्त रूपक के समस्त भेदों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते है—प्रमुख तथा गौण। इन्हें हम क्रमश पूर्ण निदर्शन तथा अपूर्ण निदर्शन की

---

१. व्याजेनात्र रणाभाव ,वधासन्ने शरीरिणि।
व्यायोगोक्ता रसा सन्धि वृत्तयोऽनुचिता रति ॥
(नाट्यदर्पण पृ० ११६)

२ ··· ··· ·· ·· वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी।
(नाट्यदर्पण, पृ० ११६)

की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। रूपकों का विभाजन एक अन्य दृष्टि से भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से रूपक को पुनः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—शौर्यपूर्ण एवं सामाजिक। इनमें नाटक और प्रकरण मुख्य है। नाटिका, समवकार, डिम, व्यायोग, अङ्क तथा ईहामृग की गणना शौर्यप्रधान नाटक की अपेक्षा निम्नकोटि में होती है। प्रकरणी, प्रहसन, भाण तथा वीथी में सामाजिक प्रवृत्ति का उतना विकास नहीं हो पाता है जितना प्रकरण में। शौर्यपूर्ण रूपक में देवता एवं उनके कार्य-कलापों का चित्रण किया जाता है। इसके विपरीत सामाजिक वर्ग में सामान्यजन एवं उनके कार्यों का प्रदर्शन होता है।

उपरूपक

नाट्यशास्त्र में उपरूपकों का वर्णन नहीं किया गया है। अग्निपुराण में तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीसक, काव्य, श्रीगदितम्, नाट्यरासक, उल्लोप्यक और प्रेक्षणक का वर्णन किया गया है। किन्तु न तो इन्हें 'उपरूपक' की संज्ञा ही प्रदान की गई है और न इनकी व्याख्या ही। अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, षिद्गक, भाणिका, रामाक्रीडम, हल्लीसक और रासक का उल्लेख किया है किन्तु इन्होंने भी इन्हें उपरूपक की संज्ञा से अभिहित नहीं किया है। दशरूपक के रचयिता धनञ्जय ने भी उपरूपकों पर प्रकाश नहीं डाला है। दशरूपक की व्याख्या करते हुए धनिक ने केवल सात उपरूपकों का नामाङ्कन ही किया है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, भाण, प्रस्थान, रासक एवं काव्य। भावप्रकाश[1] में उपरूपक के बीस भेद गिनाए गए हैं—तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सल्लाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, नाट्यरासक, लासक, उल्लोप्यक, हल्लीस, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक।

---

[1] तोटकं नाटिका गोष्ठी सल्लापः शिल्पकस्तथा।
डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानमेव च॥
काव्यञ्च प्रेक्षणं नाट्यरासकं रासकं तथा।
उल्लोप्यकञ्च हल्लीसमथ दुर्मल्लिकाऽपि च॥
कल्पवल्ली मल्लिका च पारिजातकमित्यपि।

(भावप्रकाश, नवम अधिकार, पृ० २५५)

साहित्यदर्पण मे निम्न अठारह उपरूपकों का वर्णन किया गया है—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणक, रासक, मल्लापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका (विनायिका), दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस एवं भाणिका। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, शम्या, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाणक एवं भाणिका का उल्लेख किया है, जिन्हें 'उपरूपक' न कहकर 'अन्यरूपक' की संज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उपरूपक' की संख्या के विषय मे विद्वानों मे अत्यन्त मतभेद है।

यदि हम विचार करें तो कह सकते हैं कि उपरूपकों को एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है। विभिन्न विद्वानो ने समय-समय पर इसकी संख्या को बढाने का प्रयास किया है। नाट्यदर्पणकार ने जितने 'अन्य रूपक' माने हैं, आगे चलकर सभी विद्वानों ने उनको प्रायः मान्यता दी है। यथा—नाट्यदर्पणकार के सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, प्रेक्षणक, रासक, काव्य और भाणिका को साहित्यदर्पणकार ने भी स्वीकार कर लिया है। साहित्यदर्पणकार ने 'नाटिका' और 'प्रकरणिका' को उपरूपक की कोटि मे रखा है, परन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पहले ही इन्हें रूपक का भेद मान लिया है। इसी प्रकार इनके श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीशक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण और भाणिका को शारदातनय ने भी स्वीकार कर लिया है। नाट्यदर्पणकार द्वारा माने गए 'शम्या' को विद्वानो ने उपरूपक की कोटि मे नही रखा है। इसे रूपक अथवा उपरूपक माना भी नही जा सकता है, क्योंकि यह पूर्णतया नृत्य पर ही आधारित है। आङ्गिक अभिनय के अतिरिक्त इसमे अन्य अभिनयों का समावेश नहीं किया जा सकता है। अतएव यदि शम्या को उपरूपक की कोटि मे न रखा जाय तो कोई दोष भी नही।

अब हम संक्षेप मे प्रसिद्ध उपरूपकों के स्वरूप का चित्रण करेंगे—

सट्टक—*नाट्यदर्पणकार के अनुसार सट्टक में एक ही भाषा का प्रयोग* होता है। इसमे प्राकृत और संस्कृत का मिश्रण नहीं[1]। किन्तु साहित्यदर्पणकार[2] के अनुसार सट्टक मे सम्पूर्ण पाठ्यभाग केवल प्राकृत भाषा मे ही

---

१. ······यस्त्वेकभाषया भवति।
अप्राकृत-संस्कृतया········॥ नाट्यदर्पण, पृ० १९०)

२. सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं······।
(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, २७६वीं कारिका)

लिखा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने सट्टक की यह परिभाषा केवल कर्पूरमञ्जरी को ही ध्यान में रख कर की है। सट्टक में प्रवेशक और विष्कम्भक का अभाव रहता है।

श्रीगदित—इसकी नायिका कोई कुलाङ्गना होती है। जैसे लक्ष्मी विष्णु के गुणों का वर्णन करती है वैसे ही वह नायिका भी सखी के सामने पति के शौर्य, धैर्य आदि गुणों का वर्णन करती है; एवं पति से विप्रलब्धा हो किसी गीत में उसको उलाहना देती है[1]।

दुर्मिलिता—इसमें कोई दूती ग्रामीण कथाओं के माध्यम से एकान्त में चौर्य-रत का भेद खोल देती है। पुनश्च युवा और युवती के अनुराग का वर्णन करती है एवं उस विषय में अपनी मन्त्रणा भी देती है। यह दूती नीच जाति की होती है। अतएव धन प्राप्त करके भी अत्यधिक धन-प्राप्ति की इच्छा से याचना करती है।

साहित्यदर्पणकार ने 'दुर्मिलिता' के स्थान पर 'दुर्मल्लिका आदि नामों का प्रयोग किया है। इनके मतानुसार इसमें कैशिकी और भारती वृत्ति की प्रधानता पाई जाती है।[2] यह उचित ही है, क्योंकि इसमें विशेषकर शृङ्गार का ही वर्णन किया जाता है।

प्रस्थान—इसमें चार अपसार (नृत्यच्छिन्न खण्ड) होते हैं। पुनश्च इसमें प्रथमानुराग, मान, प्रवास आदि शृङ्गारिक वर्णनों के उपरान्त वर्षा एवं वसन्त ऋतु के वर्णनों से शृङ्गार का उत्कर्ष कराया जाता है। इसके अन्त में वीर रस का वर्णन होता है।[3]

भावप्रकाश में प्रस्थान के तीन भेद गिनाये गए हैं। इसके प्रथम भेद के प्रारम्भ में माघा का वर्णन किया जाता है। इसके द्वितीय भेद का निम्न स्वरूप है—इसमें एक अङ्क होता है एवं आरम्भ में शृगार रस का वर्णन किया जाता है। इसके अन्त में वीर रस का निबन्धन किया जाता है। इसमें

---

१. श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलाङ्गना पत्युः।
 वर्णयति शौर्य-धैर्य-प्रभृतिगुणानग्रतः सख्या ॥
 पत्या च विप्रलब्धा, गातव्ये सा क्रमादुपालभते।
 श्रीगदितमिति ······ ··· ··· ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १९१)

२ दुर्मल्ली ··· · ··· कैशिकी भारती-युता।
 (साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, ३०३ कारिका)

३. नाट्यदर्पण, पृ० १९१

वर्षा एव वसन्त ऋतु का भी वर्णन मिलता है। नाट्यदर्पणकार ने प्रस्थान के इसी स्वरूप को माना है।

प्रस्थान के तृतीय भेद का निम्नस्वरूप है—

इसमे दो अङ्क होता है एवं कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धि की प्राप्ति होती है। अतएव प्रारम्भ अवस्था के बाद ही फलागम का वर्णन किया जाता है[१]।

गोष्ठी—इसमे गोष्ठ मे विहार करते हुए कैटभारि के कतिपय व्यापार का प्रदर्शन होता है, यथा—राक्षसो का मर्दन आदि[२]। 'भावप्रकाश' मे भी गोष्ठी का उपरूपक की कोटि मे उल्लेख किया गया है[3]।

हल्लीसक—नाट्यदर्पणकार के अनुसार इसमें स्त्री पात्रों की अधिकता होती है एवं उन पात्रो का मण्डलीकृत नृत्त होता है। गोपियों के बीच कृष्ण के समान इसमे एक नायक होता है[४]।

शम्या—सभा में नर्तकी ललित लय के साथ जिसके पदार्थों का अभिनय करती है उस नृत्य को शम्या, लास्य, छलित एवं द्विपदी आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।

प्रेक्षणक—बहुत से पात्र विशेष के द्वारा गली, समाज, चबूतरा अथवा मद्यशाला आदि में जिसका सम्पादन किया जाता है उस नृत्य विशेष को प्रेक्षणक कहते हैं[५]। साहित्यदर्पणकार[६] ने प्रेक्षणक को 'प्रेङ्खण' की संज्ञा प्रदान की है और इसका निम्नस्वरूप प्रस्तुत किया है—इसके नेपथ्य में नान्दी और प्ररोचना का पाठ होता है परन्तु सूत्रधार का प्रयोग नहीं किया जाता

---

१. भावप्रकाश, नवम अधिकार।

२. नाट्यदर्पण, पृ० १९१

३. भावप्रकाश, नवम अधिकार।

४. नाट्यदर्पण, पृ० १९१

५. नाट्यदर्पण, पृ० १९१

६. गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम्।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भ-प्रवेशकम्॥
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना॥
(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, २८६–२८७)

है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियों का अभाव पाया जाता है। इसका नायक हीनकोटि का होता है।

रासक—इसमें नायिकाओं की संख्या सोलह, बारह या आठ होती है। ये नायिकाएँ पिण्डीबन्ध आदि विशेष ढंग से नृत्य करती हैं[1]।

नाट्यरासक—नाट्यरासक में वसन्त ऋतु को पाकर राग के कारण नायिकाओं के सहित राजा के व्यापार का नृत्य द्वारा प्रदर्शन किया जाता है[2]। साहित्यदर्पणकार के अनुसार इसमें एक अङ्क, उदात्त नायक, उपनायक, शृंगार और हास्य रस का समावेश रहता है। इसमें लास्याङ्गों का भी नियोजन रहता है। इसकी नायिका वासकसज्जा कोटि की होती है।[3]

काव्य—काव्य में आक्षिप्तिका, मात्रा, ध्रुवा, न टूटनेवाला ताल, पद्धतिका एवं छर्दनिका आदि का वर्णन रहता है।

भाण—भाण में विष्णु, महादेव, सूर्य, पार्वती, स्कन्द एवं प्रमथाधिप की स्तुति निबन्ध रहती है। इसमें स्त्री पात्रों का अभाव रहता है। इसके क्रिया-व्यापार का वेग अत्यन्त तीव्र रहा करता है[4]।

भाषा की दृष्टि से 'भाण' के तीन भेद हैं—शुद्ध, संकीर्ण एवं चित्र। केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग होने से 'शुद्ध', संकीर्ण एवं प्राकृत का मिश्रण होने से 'संकीर्ण' एवं विभिन्न भाषाओं का मिश्रण होने से 'चित्र' होता है।

कथावस्तु की दृष्टि से 'भाण' को पुनः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है उद्धत, ललित और ललितोद्धत। यह उद्धत कथावस्तु होने से उद्धत, ललित कथावस्तु होने के कारण ललित, कथावस्तु के उद्धत तथा ललित

---

१. षोडश द्वादशाष्टौ वा, यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः, रासकं तदुदाहृतम्॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १९१)

२. नाट्यदर्पण, पृ० १९२

३. नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति॥
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम्।
हास्योऽङ्ग्यत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका॥
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च।
(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, २८७-२७९)

४. हरि-हर-भानु-भवानी-स्कन्द-प्रमथाधिप-स्तुतिनिबद्धः।
उद्धतकरणप्रायः, स्त्रीवर्जो वर्णनायुक्तः॥ (नाट्यदर्पण, पृ० २८)

उभयात्मक होने के कारण ललितोद्धत होता है। इस प्रकार भाण के निम्न नव भेद हैं —

(१) शुद्ध उद्धत
(२) शुद्ध ललित
(३) शुद्ध ललितोद्धत
(४) सकीर्ण उद्धत
(५) सकीर्ण ललित
(६) संकीर्ण ललितोद्धत
(७) चित्र ललित
(८) चित्र उद्धत
(९) चित्र ललितोद्धत

भाणिका—भाण और भाणिका इन दोनो उपरूपको मे अत्यन्त साम्य है। दोनो में केवल इतना अन्तर है कि भाण तो स्वरूप एवं स्वभाव से उद्धत और भाणिका मसृण है। जब भाण मे कथानक हरि से सम्बन्धित होता है एव स्त्रीकृत गाथा, वर्ण तथा मात्रा का प्रयोग किया जाता है, तब 'भाण' ही 'भाणिका' की सज्ञा को प्राप्त करता है।

यद्यपि नाट्यदर्पणकार ने उपर्युक्त 'सट्टक' आदि तेरह को ही 'अन्यरूपक' की सज्ञा से अभिहित किया है। तथापि अन्य विद्वानो ने सल्लापक, पारिजातक, शिल्पक, कल्पवल्ली एव विलासिका आदि को भी उपरूपक माना है। लोकरञ्जक होने के कारण इनका भी महत्त्व है। अतएव इनके स्वरूप का सक्षेप मे चित्रण करना अनुचित न होगा।

सल्लापक— सल्लापक की कथावस्तु ख्यात अथवा कल्पित होती है। कभी-कभी इसकी कथावस्तु मे इन दोनो का मिश्रण भी हो जाता है। इसमे वीर और रौद्र रस का मिश्रण रहता है। इसमें तीन अङ्क होते हैं। प्रथम अङ्क मे विद्रव, द्वितीय में ताल और तृतीय अङ्क मे कपट का वर्णन रहता है। युद्ध का वर्णन होने से आरभटी वृत्ति का होना स्वाभाविक ही है। इसके साथ ही साथ सात्वती वृत्ति का भी सन्निवेश रहता है। इसमे प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त शेष चार सन्धियों का नियोजन रहता है। अतएव आरम्भ, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन्हीं चार अवस्थाओ का निबन्धन रहता है।

पारिजातक—इसका नायक दिव्य होता है जो उदात्त हुआ करता है एव नायिका स्वीया या गणिका होती है जो कलहान्तरिता या भोगिनी हुआ करती

है। इसमें एक ही अङ्क होता है जिसमे मुख और निर्वहण सन्धियो का नियोजन रहा करता है। इसमें शृङ्गार और वीर रस का निबन्धन रहा करता है।

शिल्पक—शिल्पक मे चार अङ्क होते हैं। इसका नायक ब्राह्मण एव नायिका ब्राह्मण या अमात्य की कन्या होती है। इसमे हास्य रस के अतिरिक्त अन्य रसो का पुट रहता है।

कल्पवल्ली—इसका नायक उदात्त एव उपनायक पीठमर्द हुआ करता है। इसमे मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियो का समावेश रहता है। हास्य और शृङ्गार रस की प्रधानता होने से कैशिकी वृत्ति का निबन्धन रहता है।

विलासिका—विलासिका की कथावस्तु ख्यात होती है। इसका नायक हीनकोटि का होता है। इसमे एक ही अङ्क होता है। शृङ्गार रस की प्रधानता के कारण कैशिकी वृत्ति पाई जाती है। यह गर्भ एव अवमर्श सन्धियो से रहित होता है, अतएव आरम्भ, प्रयत्न और फलागम इन्ही तीन अवस्थाओ का निबन्धन होता है।

द्वितीय अध्याय

नाटकीय कथावस्तु

नाटक मे वर्णित कथानक को आख्यान वस्तु, कथावस्तु, वस्तु एव वृत्त आदि कई सज्ञाओ से अभिहित किया जाता है। स्रोत की दृष्टि से इसके तीन भेद है—प्रख्यात, उत्पाद्य एव मिश्र। जब कथा इतिहासप्रसिद्ध पूर्ववर्ती राजा के चरित पर आधारित रहती है, तब इसे प्रख्यात' कहते हैं। 'उत्पाद्य' कथा-वस्तु मे महाभारतादि इतिहासप्रसिद्ध न होकर कविकल्पित होती है। 'मिश्र' कथावस्तु मे कथानक का कुछ अश तो इतिहासप्रसिद्ध होता है एव कुछ कविकल्पित।

फलाधिकार की दृष्टि से वृत्त के पुन दो भेद हैं—मुख्य और प्रासङ्गिक। प्रबन्ध मे सर्वव्यापक होने के कारण इष्ट फल से युक्त प्रधान वृत्त 'मुख्य वृत्त' कहा जाता है। 'अङ्ग वृत्त' प्रासङ्गिक वृत्त कहा जाता है। यह वृत्त मुख्य वृत्त का अनुयायी होने के कारण इसका अवयव है। कोई भी वृत्त स्वभावत ही मुख्य या प्रासङ्गिक की सज्ञा को नहीं प्राप्त करता है, अपितु समस्त फलो मे कवि को जिस फल का उत्कर्ष अभिप्रेत रहता है, उससे युक्त वृत्त को 'मुख्य वृत्त' कहते है। इसस व्यतिरिक्त चरित उसका अग होने से 'प्रासङ्गिक वृत्त' कहलाता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि 'मुख्यवृत्त' मुख्य फल से सम्बन्धित रहता है एव प्रासङ्गिक वृत्त गौण फल से। राम प्रबन्ध मे सुग्रीव-मैत्री, शरणागत विभीषण-रक्षण, रावण वध एव सीता-प्रत्यानयन आदि मे से सीता-प्रत्यानयन का ही प्रधान रूप से वर्णन किया गया है। दशरूपककार[1] के अनुसार जो वृत्त दूसरे प्रयोजन के लिए होता है, किन्तु प्रसङ्गत जिसका स्वय का फल भी सिद्ध होता है वह 'प्रासङ्गिक' वृत्त है। सर्वत्र मुख्य वृत्त के लिए किए गए प्रयत्न के द्वारा ही प्रासङ्गिक वृत्त की सिद्धि करनी चाहिए। क्योकि उसके लिए अलग प्रयत्न करने पर तो वह भी मुख्य वृत्त ही बन जायगा[2]। 'तापसवत्सराज' नाटक में वत्सराज उदयन के कौशाम्बी के राज्य

---

१. प्रासङ्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गत ।

(दशरूपक, प्रथम प्रकाश, १३)

२ प्रासङ्गिकस्यापि च मुख्यवृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिर्विधेया। प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्य स्यात्। (नाट्यदर्पण, पृ० २७)

की प्राप्तिरूप मुख्यफल के लिए किए गए यौगन्धरायण के व्यापार से ही वासवदत्ता का समागम और पद्मावती की प्राप्ति आदि रूप प्रासङ्गिक कार्य की भी सिद्धि होती है।

इन दोनों प्रकार के चरितों के भी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की दृष्टि से चार भेद हैं—सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य अर्थात् कल्पनीय और उपेक्ष्य[1]। नीरस वृत्त का रंगमञ्च पर प्रदर्शन करना अनुचित है। इसी प्रकार सरस होने पर भी अनुचित वृत्तों की सूचना ही विष्कम्भक आदि के द्वारा दिलवानी चाहिए। आलिङ्गन एवं चुम्बनादि, जो कि सरस होने पर भी रङ्गमञ्च पर दिखलाने के अयोग्य हैं, विष्कम्भक आदि के द्वारा ही ज्ञाप्य हैं। अतः इनको 'सूच्य' कहा जाता है। 'प्रयोज्य' वृत्त 'सूच्य' के ठीक विपरीत होता है। यह नट आदि के द्वारा वाचिकादि अभिनयों से सामाजिकों के सामने प्रत्यक्ष-जैसा किया जाता है। अतएव इसे 'प्रयोज्य' कहते हैं। जिसका स्वयं वितर्क किया जाय, वह 'ऊह्य' कहलाता है। जैसे अन्य स्थान पर पहुँचने के लिए गमन आदि की स्वयं ऊहा अर्थात् कल्पना की जाती है क्योंकि पैरों से चले बिना दूसरे स्थान पर नहीं पहुँचा जा सकता है। क्रीडा आदि के जनक होने से जिसकी अवहेलना अथवा उपेक्षा कर दी जाय, वह 'उपेक्ष्य' कहलाता है। भोजन, स्नान, शयन और मूत्र-त्याग आदि घृणा के जनक होने के कारण जुगुप्सित कहलाते हैं। किन्तु भवभूति विरचित 'उत्तररामचरित' में जो राम की गोद में पड़ी हुई सीता का अभिनय दिखाया गया है, वह 'उपेक्ष्य' नहीं है क्योंकि वह प्रस्तुत में उपयोगी और मनोरञ्जक है।

प्रयोज्य के अतिरिक्त इन सूच्य आदि वृत्तांशों की सूचना पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों द्वारा दी जाती है। ये अर्थोपक्षेपक निम्न हैं—

विष्कम्भक, प्रवेशक, अङ्कास्य, चूलिका एवं अङ्कावतार[2]।

विष्कम्भक—स्मृति द्वारा कथाभाग को पुष्ट बनाता है। किन्तु विष्कम्भक द्वारा उतने ही दूर के अतीत काल के अर्थ का वर्णन कराना चाहिए जिनका स्मरण सामान्य रूप से मनुष्य को हो सकता हो। वे घटनाएँ बहुत प्राचीन नहीं होनी चाहिए। पुनश्च यह दो अङ्कों के बीच के कथाभाग को जोड़कर कथासूत्र को अविच्छिन्न बनाता है[3]। इसके दो भेद हैं—शुद्ध एवं सङ्कीर्ण।

---

१. सूच्यं प्रयोज्यमभ्यूह्यम्, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम्। (नाट्यदर्पण, पृ० २७)

२. नाट्यदर्पण, पृ० ३३-३६

३. अङ्कसन्धायकः पश्यसन्धानातीतकालवान्। (नाट्यदर्पण, पृ० ३४)

यदि भविष्यत्कालीन, वर्तमानकालीन अथवा भूतकालीन वृत्त का, अरञ्जक अथवा रञ्जक कैसा भी हो, अभिनय एक दिन में असम्भव हो तो वह प्रेक्षकों को साक्षात् अभिनय द्वारा न दिखलाया जाने वाला कथाभाग अङ्कानार्ह (अङ्को में न दिखलाने योग्य) है। अतएव अङ्क में उसका निबन्धन न करके समास-रहित अथवा अदीर्घ समासयुक्त संस्कृत भाषा के माध्यम से मध्यम पात्रों द्वारा अङ्क के आदि में सूचित कराना चाहिए। ऐसा विष्कम्भक 'शुद्ध' कहलाता है। अधम पात्रों के उपस्थित रहने से विष्कम्भक संकीर्ण हो जाता है। संकीर्ण विष्कम्भक में अधम पात्रों के रहने से प्राकृत का भी प्रयोग होता है। निम्नकोटि के पात्रों के अभाव से विष्कम्भक 'शुद्ध' कहलाता है। अधम पात्रों का भी प्रवेश होने से विष्कम्भक 'संकीर्ण' हो जाता है। विष्कम्भक में मध्यमश्रेणी के पात्रों का रखना आवश्यक है, नहीं तो वह 'प्रवेशक' हो जायेगा।[1]

विष्कम्भक का प्रयोग सदा अङ्क के आरम्भ में करना चाहिए। भरत आदि समस्त नाट्याचार्यों के अनुसार नाटक के किसी भी अङ्क में आवश्यकतानुसार विष्कम्भक का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि जब कभी भी विष्कम्भक का प्रयोग किया जाय, सदा अङ्क के आरम्भ में ही करना चाहिए। अङ्क के बीच या अन्त में विष्कम्भक का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किन्तु कोहलाचार्य[2] का मत इससे विलक्षण है। इनके मतानुसार विष्कम्भक का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही किया जा सकता है। अन्य अङ्कों में उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है। अथवा फिर इसका प्रयोग अङ्क के मध्य अथवा अन्त में कहीं भी किया जा सकता है।

विष्कम्भक की सभी उपर्युक्त बातें 'प्रवेशक' काल में भी पायी जाती है। केवल इतना ही अन्तर है कि (१) इसमें अधम पात्रों का ही प्रयोग होता है जो प्राकृत बोलते हैं। (२) यह दो अङ्कों के बीच में ही होता है। नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी में ही इनका प्रयोग करना चाहिये। नाटकादि चार रूपकों में परिमित उपायों के द्वारा मुख्य तथा अवान्तर बहुत से कार्यों का परिज्ञान राजा और उसके सहायक मन्त्री आदि को कराना होता है।

---

१. सङ्क्षिप्य संस्कृतेनोक्तिः, अङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ॥
शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र, संकीर्णो नीच-मध्यमैः ।
(नाट्यदर्पण, पृ० ३३,३४)

२. कोहल-नाट्यवेद, अभिनवभारती भाग २ (गायकवाड़ ओरियण्टल-सीरीज) पृ० ४३४ में उद्धृत।

अतएव इनमें ही विस्तृत अवान्तर कार्यों का ज्ञान कराने के लिए विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग किया जाता है। व्यायोग आदि एकाङ्की रूपकों में थोडा-सा ही कथाभाग होने से कम काम होने के कारण इनका प्रयोग नहीं किया जाता है। समवकार में अङ्कों के परस्पर असम्बद्ध होने से तथा अन्य रूपकों में कुछ ही दिन का वृत्तान्त होने से प्रवेशक तथा विष्कम्भक की आवश्यकता नहीं पडती है।

अङ्क के अन्त में ही प्रविष्ट होने वाले अन्तिम पात्र के द्वारा विच्छिन्न अगले उत्तरवर्ती अङ्क के आरम्भ का सम्बन्ध जोडने से 'अङ्कास्य' नामक अर्थोपक्षेपक होता है[1]। यथा महावीरचरित के द्वितीय अङ्क के अन्त में—

प्रविष्ट होकर सुमन्त्र कहते हैं कि महर्षि वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, भार्गव सहित आप दोनों (शतानन्द और जनक) को बुला रहे हैं।

अन्य दोनों—वे दोनों कहाँ हैं?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के समीप हैं।

अन्य दोनों—उनकी इच्छा के अनुसार हम सब वहीं जाते हैं।

यह अङ्क की द्वितीय समाप्ति में आया है। तदनन्तर अगले अङ्क के आरम्भ में वसिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, जनक और परशुराम प्रविष्ट होते हैं।

इस उदाहरण में पूर्ववर्ती द्वितीय अङ्क के अन्त में ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्र पात्र ने शतानन्द और जनक के वार्तालाप रूप अर्थ को विच्छिन्न करके अगले उत्तरवर्ती अङ्क के आरम्भ की सूचना दी है। अतएव यह अङ्कास्य का उदाहरण है।

नाट्यदर्पणकार के मतानुसार अङ्कास्य में उत्तरवर्ती अङ्क पूर्व अङ्क से असम्बद्ध रूप में प्रारम्भ होता है। किन्तु भरत मतानुसार 'अङ्कमुख' वहाँ होता है जहाँ किसी स्त्री या पुरुष पात्र द्वारा अङ्क की कथा का संक्षेप आरम्भ में ही कर दिया जाता है।[2] उन्होंने इस अर्थोपक्षेपक को 'अङ्कमुख' की संज्ञा प्रदान की है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भरत से सहमत है। इनके अनुसार जहाँ एक ही अङ्क में दूसरे अङ्क की समस्त कथा की सूचना हो, वहाँ 'अङ्कमुख' होता है[3]। साहित्यदर्पण में इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' के प्रथम

१. अङ्कास्यमन्त्यपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम्। (नाट्यदर्पण, पृ० ३५)

२ विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा। यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते॥ (नाट्यशास्त्र, अध्याय २१–११६)

३ यत्रास्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला। तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्॥ (साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ३९९)

अङ्क का आरम्भ किया गया है जहाँ कामन्दकी व अवलोकिता मालती तथा माधव के अनुराग की सूचना प्रसङ्गवश दे देती हैं।

नेपथ्यसस्थित पात्रो के द्वारा किसी वस्तु की सूचना 'चूलिका' है। यथा 'उत्तररामचरित' के दूसरे अङ्क के प्रारम्भ मे आत्रेयी के आगमन पर वनदेवी नेपथ्य से उसका स्वागत करती है। अथवा रत्नावली नाटिका मे—

'अपनी समस्त प्रभा को अस्ताचल की चोटी पर बिखराकर सूर्य भगवान ने आकाश को पार कर लिया। इसी सन्ध्या समय म सभी राजागण सरोरुह की द्युति हरने वाले एव नेत्रो को आनन्द प्रदान करने वाले महाराज उदयन के चरणो की सेवा मे उसी प्रकार आ रहे है जैसे कमलो को सकुचित करने वाले तथा नयनो को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा की किरणो की सेवा मे ताराओ का समूह आ रहा हो[1]।' यहाँ नेपथ्य मे स्थित बन्दी के द्वारा कामगरय उदयन की सूचना सागरिका के प्रति दी गई है। अतएव यहाँ चूलिका है।

पूर्व अङ्क के पात्रो द्वारा अन्य किन्ही पात्रो के आगमन की विष्कभक, प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपको के माध्यम से सूचना दिए बिना पूर्व अङ्क के पात्रो से ही दूसरे अङ्क का जो आरम्भ होता है, उसे अङ्कावतार कहते हैं[2]। यथा 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अङ्क के अन्त मे—

विदूषक—अतएव आप दोनो देवी की रङ्गशाला म जाकर और सङ्गीत के साज को सँभालकर दूत भेज दीजिएगा। अथवा मृदङ्ग का शब्द ही हम सबको उठा देगा।

पूर्व अडक के अ त मे इस प्रकार का उपक्रम करके मृदङ्ग शब्द के श्रवण के बाद वे ही सब पात्र द्वितीय अङ्क का आरम्भ करते है।

'अङ्कास्य' मे अगला अङ्क पूर्व अङ्क से असम्बद्ध रूप मे आरम्भ होता है, जबकि 'अङ्कावतार' में पूर्व अङ्क के अङ्ग रूप मे ही नया अङ्क आरम्भ होता है। यही इन दोनो मे भेद है।

दूर देश का गमन नीरस व्यापारो से पूर्ण होने के कारण नगरावरोध, नीरस एव अशोभनीय व्यापारो की सम्भावना से पूर्ण होने के कारण राज्य का विप्लव, आलिङ्गन एव चुम्बन आदि लज्जाजनक व्यापार से परिपूर्ण होने के कारण सम्भोग, हाथ-पैर आदि का काटना, प्रभूत काल एव प्रभूत क्लेश से

---

१ रत्नावली, प्रथम अङ्क, २३

२ सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्। (नाट्यदर्पण, पृ० ३६)

नाट्य तथा क्रीडादायक आदि अन्य सूच्य अर्थों को विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकों के द्वारा ही सूचित किया जाता है[1]।

बहुल एवं बहुकालव्यापी अर्थ के सूचनीय होने पर 'विष्कम्भक' और 'प्रवेशक' प्रयुक्त होते हैं। अल्प और अल्पकालीन अर्थ के सूच्य होने पर अङ्कास्य, अल्पतर और अल्पतरकालीन अर्थ के सूचनीय होने पर चूलिका तथा अल्पतम और अल्पतमकालीन अर्थ के सूचनीय होने पर अङ्कावतार का प्रयोग किया जाना चाहिए[2]।

वृत्त की अभिव्यक्ति के निम्न अन्य पाँच भेद हैं—प्रकाश, स्वगत, अपवारित, जनान्तिक एवं आकाशोक्ति। जो वृत्त गोपनीय न होकर अपने से व्यतिरिक्त दूसरों के सुनने योग्य हो (रंगमञ्च पर उपस्थित पात्रों को भी सुनने योग्य हो), उसे 'प्रकाश' कहते हैं। जो दूसरों के लिए गोप्य अपने मन में ही स्थित रखने योग्य हो, उसे 'स्वगत' कहते हैं। वैसे स्वगत रूप में कही जाने वाली बात गोपनीय तो होती है किन्तु उसकी गोपनीयता केवल अभिनय करने वाले पात्रों की ही दृष्टि से होती है, सामाजिक की दृष्टि से उसकी गोपनीयता बिल्कुल नहीं होती। अभिनय करते समय 'स्वगत' भाव को भी उच्च स्वर से बोला जाता है जिससे प्रेक्षक गण उसे स्पष्ट रूप से सुन सकें। पात्र तो मुख-मुद्रा द्वारा ऐसा अभिनय करता है कि मानो वह अपने मन में ही कह रहा है। जब उपस्थित व्यक्ति की ओर से घूमकर किसी एक पात्र से ही रहस्य की बात की जाती है, तब वहाँ 'अपवारित' होता है। इस 'अपवारित' को भी सामाजिक को सुनाना अवश्य अभिप्रेत होता है जिससे सामाजिक या रसास्वाद गड़बड़ाने न पाये। जब 'त्रिपताकाकर'[3] की मुद्रा से रंगमञ्च पर उपस्थित अन्य लोगों की ओट करके कुछ व्यक्ति इस प्रकार बातचीत करें कि उनसे व्यतिरिक्त अन्य व्यक्ति न सुनें, तब 'जनान्तिक' होता है। जनान्तिक शब्द नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। किसी रहस्य की बात को कुछ व्यक्तियों से छिपाकर अन्य बहुसंख्यक व्यक्तियों पर प्रकट करने के लिए इस विशेष शैली

---

१. दूराध्वयान पुरोध, राज्यदेशादि विप्लव। रणं मृत्यु समीरादि वर्ज्यं विष्कम्भकादिभिः॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ३३)

२. आद्यौ सूच्ये बहावल्पे, क्रमादल्पे तरे तमे। (नाट्यदर्पण, पृ० ३७)

३. कनिष्ठिका के पास वाली अनामिका उँगली को अँगूठे से दबाकर शेष तीन उँगलियाँ उठाकर जो हाथ की स्थिति बनती है, उसे 'त्रिपताकाकर' कहते हैं।

का आश्रय लिया जाता है। रंगमञ्च पर प्रविष्ट पात्र जहाँ दूसरे पात्र के बिना ही आकाश की ओर मुख करके स्वयं प्रश्न और प्रत्युत्तर करे, वहाँ 'आकाशोक्ति' होती है। इसके दो भेद हैं—कही स्वय उत्तर देने के लिए अनुभाषण के द्वारा दूसरे का प्रश्न आकाशोक्ति के रूप मे किया जाता है और कही अपने प्रश्न के उत्तर रूप मे अनुभाषण द्वारा दूसरे का उत्तर कहा जाता है।

सुखावबोध होने के लिए वृत्त मे परिमित पद्य और गद्य का ही होना श्रेयस्कर है क्योकि समासबहुल एव कर्कश गद्य दुर्बोध होने के कारण सामाजिको को रसास्वाद नही करा सकता है। वृत्त में श्लिष्ट प्रधान फल से ही सम्बद्ध अवान्तर कार्यों की योजना करनी चाहिए। नाट्य मे उन्ही अवान्तर वृत्तो का आयोजन करना चाहिए जो प्रधान फल के साधक हो। यथा रत्नावली मे प्लवग-सम्पात • सागरिका के अनुराग-बीज के फल का संप्राप्ति हेतु है। नदी, समुद्र, सूर्योदय एव चन्द्रोदय आदि का यथावसर ही वर्णन करना चाहिए। इन सबका निष्प्रयोजन वर्णन अनुचित है। इससे रस-हानि हो सकती है। नाट्य मे सभी रसो मे केवल एक ही रस की प्रधानता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य रसो को गौण स्थान मिलना चाहिए। अंगभूत रस का नियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि वह मुख्य रस का विरोध न कर सके। अन्त मे अद्‍भुत रस का भी समावेश होना चाहिए। श्लेष एवं उपमा आदि अलकारो का भी निवेश करना उचित है।

पहले कहे हुए या पूर्व प्रकाशित किये हुए वृत्त को यदि प्रयोजनवश पुनः कहने की आवश्यकता हो तो उसे कान मे ही कहलाना चाहिए जिससे पुनरुक्त दोष न आने पाए। किसी नाट्यवस्तु को मुखसन्धि मे, किसी को निर्वहण के आरम्भ मे और किसी को अन्त मे रखना चाहिए। सकल प्रबन्ध में रसारोहणार्थ रञ्जक भावो का वर्णन करना चाहिए। नायक अथवा रस के विरुद्ध और अयुक्त वृत्त को या तो छोड़ देना चाहिए या उसमे उचित संशोधन कर देना चाहिए[1]। यथा मायुराज ने अपने नाटक 'उदात्तराघव' में राम के द्वारा छल से वालि-वध के कथानक को सर्वथा छोड़ दिया है। अथवा जैसे कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को अकलंकित रखने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना की है।

---

१. अयुक्तं च विरुद्धं च, नायकस्य रसस्य वा।
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं, प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ३०)

मुख्यफल की प्राप्ति के प्रति बीजादि उपायों का प्रयोग करने वाले नायक के प्रधान वृत्त में आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम अवस्थाएँ अवश्य निबद्ध की जाती हैं[1]। इन पाँच अवस्थाओं का प्रदर्शन कहीं तो नायक के व्यापार द्वारा होता है और कहीं प्रतिनायक, सहायक तथा दैव-व्यापार के द्वारा भी हो सकता है। किन्तु फलागम रूप अन्तिम अवस्था केवल नायक को ही प्राप्त होती है।

किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा होती है एवं उस फल के प्रति औत्सुक्य भी पाया जाता है। इसी फलौत्सुक्य को 'आरम्भ' कहते हैं[2]। मुख्य साध्य के प्रति यह विचार आना कि यह इसके द्वारा साध्य है, यही आरम्भ है। यथा 'वेणीसंहार' के प्रथम अङ्क में भीम की सहदेव के प्रति यह उक्ति कि भगवान श्रीकृष्ण किस मूल्य पर सन्धि स्थापित करने के लिए सुयोधन के पास गए हैं—भीमसेन के औत्सुक्य का ज्ञान होता है। अतएव यहाँ आरम्भ है।

फल के उपायों के व्यापार में शीघ्रता करना 'प्रयत्न' कहलाता है[3]। 'इस उपाय के बिना फल-प्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय से मन में जो उत्सुकता होती है, वही प्रयत्न है। इसके अन्तर्गत नायक या नायिका अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं। यथा 'रत्नावली' में सागरिका वत्सराज को प्राप्त करना चाहती है। इस प्राप्ति के उपाय रूप में वह वत्सराज का चित्र बनाती है। यहीं पर नाटिका में यत्न नामक अवस्था पायी जाती है। औत्सुक्य मात्र का पाया जाना आरम्भ है, फल-प्राप्ति के लिए की गई चेष्टा यत्न है। यही इन दोनों अवस्थाओं में भेद है।

हेतुमात्र से फल-प्राप्ति की किञ्चित् सम्भावना 'प्राप्त्याशा'[4] है। प्रधान फल के लाभ की आशा प्रत्याशा है। इस अवस्था में फल-लाभ के विषय में निश्चय नहीं किया जा सकता है क्योंकि फल अनेक विघ्नों एवं शङ्काओं से युक्त रहता है। यथा वेणीसंहार के तृतीय अङ्क की निम्न उक्ति में—

'जिस मानव पशु ने द्रौपदी के केशों को पकड़ कर खींचा, राजाओं और

---

१. आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति फलागमाः ।
नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ४४)

२. फलायौत्सुक्यमारम्भः ··· ··· ·· । (नाट्यदर्पण, पृ० ४४)

३. प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा । (नाट्यदर्पण, पृ० ४५)

४. फल सम्भावना किञ्चित्, प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः । (नाट्यदर्पण, पृ० ४५)

गुरुजनो के सामने उसके वस्त्र को खीचकर उसे विवस्त्र करने की चेष्टा की और जिसके वक्षस्थल से रक्तपान की प्रतिज्ञा मैंने की थी,वही आज मेरे भुजा रूपी पिंजडे मे आकर फँस गया है। अब कौरव उसकी रक्षा करें'[1]। यहाँ दुश्शासन का वध होने से युधिष्ठिर की राज्य प्राप्ति सम्भव है। अतएव यहाँ 'प्राप्त्याशा' अवस्था है।

उपायो की सफलता से होने वाले कार्य की प्राप्ति का निर्णय 'नियताप्ति'[2] है। इस अवस्था मे फलसिद्धि के बाधको का निराकरण और फल-प्राप्ति के अभीष्ट साधनो के उपस्थित हो जाने से फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यथा 'वेणीसहार'[3] के पञ्चम अङ्क मे—

'द्यूत रूपी छल को करने वाला, लाख के बने हुए महल का दाहकर्ता वह अभिमानी राजा दुर्योधन कहाँ है? हम उससे मिलने के लिए आए हैं। जो दुर्योधन द्रौपदी के केश और वस्त्र को खीचने मे पटु है, पाण्डव जिसके दास है, जो सौ भाइयो मे सबसे बडा एव अङ्गराज का परम मित्र है, कहाँ है[3]?' समस्त भाइयो की हत्या हो जाने के बाद एक मात्र दुर्योधन का भीम और अर्जुन के द्वारा अन्वेष होने से नियताप्ति है।

नायक को साक्षात् अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति 'फलागम' है[4]। यथा वेणीसहार के षष्ठ अङ्क मे—

'शरीर को भूमि पर फेंक कर चन्दन के समान उसके रुधिर को अपने अङ्गो पर धारण कर लिया है। उसकी राज्यलक्ष्मी चारो समुद्रो की सीमा तक की भूमि के साथ आपके यहाँ वर्तमान है। कुरुवश रण की अग्नि मे भस्म हो चुका है। जिसका आज आप उच्चारण कर रहे हैं, ऐसे धार्तराष्ट्र का नाम ही अब शेष है'।[5]

---

१ वेणीसहार, तृ० अ०, ४७

२ नियताप्तिरुपायाना, साकल्यात् कार्यनिर्णय । (नाट्यदर्पण, पृ० ४६)

३ वेणीसहार, पञ्चम अङ्क, २६

४. साक्षादिष्टार्थसम्भूति, नायकस्य फलागम । (नाट्यदर्पण पृ० ४६)

५. भूमौ क्षिप्त्वा शरीर निहितमिदमसृक् चन्दनाभ मयाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपया सीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधा कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद् रणाग्नौ
नामैक यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥
(वेणीसहार, षष्ठ अङ्क ३९)

यहाँ वेणीसंहार नाटक मे भीमसेन के द्वारा दुर्योधन की हत्या हो जाने के उपरान्त युधिष्ठिर को राज्य-लाभ होता है। यही इस नाटक का फलागम है।

नाट्य के मुख्य साध्य के पाँच हेतु भी हैं। इन हेतुओ को 'उपाय' की सज्ञा से अभिहित किया जाता है[1]। ये उपाय निम्न हैं—

बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु और कार्य।

भरतमुनि[2] ने नाट्यशास्त्र मे बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक पाँच अर्थ प्रकृतियो का उल्लेख किया है जो उत्तरवर्ती सभी आचार्यों को मान्य है। किन्तु इस विषय मे नाट्यदर्पणकार की अपनी एक विशेष सूझ है। इन्होने अर्थ प्रकृतियो को 'उपाय' की सज्ञा प्रदान की है। इन्होने इन उपायो का विभाजन चेतन एवं अचेतन की दृष्टि से एक विलक्षण प्रकार से किया है। पुनश्च इन्होंने चेतन हेतु का भी दो वर्गों मे विभाजन किया है—मुख्य और उपकरणभूत। बिन्दु मुख्य चेतन हेतु है। इन्होने उपकरणभूत चेतन हेतु को भी दो वर्गों मे विभाजित किया है–(१) स्वार्थसिद्धियुक्त होने के साथ परार्थसिद्धि-पर (२) परार्थसिद्धितत्पर। इसी प्रकार अचेतन हेतु को भी दो वर्गों मे विभाजित किया गया है—मुख्य एवं अमुख्य। बीज मुख्य अचेतन हेतु है क्योकि अन्य सब उसके आश्रित रहते हैं एवं कार्य अमुख्य है। इस प्रकार का वर्गीकरण और क्रम नाट्यदर्पण के अतिरिक्त हमे अन्य किसी भी ग्रन्थ मे नही दिखाई पड़ता है।

नाट्यदर्पणकार ने यहाँ पर मौलिक रूप से चिन्तन करने का प्रयास किया है। इन्होने भरतमुनि द्वारा मान्य अर्थप्रकृतियो के क्रम मे भी उलट फेर किया है। भरतमुनि ने अर्थ प्रकृतियो का निम्न क्रम रखा है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। इनके विपरीत नाट्यदर्पणकार ने बीज, पताका प्रकरी, बिन्दु और कार्य—इस क्रम से इन्हे संजोया है। परन्तु वास्तविक रूप से यदि विचार किया जाय तो कवि या नाटककार अपनी आवश्यकता और इच्छानुसार इनमे से किन्ही का और किसी भी क्रम से उपयोग कर सकता है। जिस क्रम से इनका उल्लेख हुआ है उसी क्रम से नाटक मे इनका प्रयोग अपेक्षित नहीं है। 'पताका' और 'प्रकरी' का प्रत्येक नाटक मे पाया जाना

---

१ बीज पताका प्रकरी, बिन्दु कार्यं यथारुचि।
फलस्य हेतव पञ्च चेतना चेतनात्मका ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ३७)

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय १९,२२

अनिवार्य नही है। इनकी आवश्यकता उसी दशा मे है जब मुख्य नायक को सहायक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

रूपक के आरम्भ मे सूक्ष्म रूप से उद्दिष्ट एवं अन्त मे फल रूप मे पर्यवसित होने वाला हेतु विस्तृत हो जाने से **'बीज'** कहलाता है[१]। यह बीज नाटक के इतिवृत्त का उपाय होता है। यह तत्व इतिवृत्त मे धान आदि के बीज के समान पल्लवित होता है। जिस प्रकार कृषक वृक्ष एव फल आदि की इच्छा से भूमि मे बीज का निक्षेप करता है, उसी प्रकार नायक आदि पात्र भी धर्म, अर्थ एवं।कामरूप फल के लिए आमुख के बाद बीज-वपन करता है। गम्भीर होने के कारण आरम्भ मे बीज को सूक्ष्म रूप से निर्दिष्ट किया जाता है। यथा 'रत्नावली' नाटिका मे मञ्च पर प्रवेश करने के पूर्व ही यौगन्धरायण के द्वारा सूक्ष्म रूप से बीज-वपन कर दिया जाता है। इस नाटिका मे उदयन तथा रत्नावली को मिला देना यौगन्धरायण का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन मे उसे दैव की अनुकूलता भी प्राप्त है। इस बीज की सूचना वह निम्न पंक्तियो से देता है—"प्रसन्न होने पर दैव अभीष्ट वस्तु को अन्य द्वीप से, समुद्र के मध्य से अथवा दिशाओ के छोर से लाकर प्राप्त करा ही देता है।"[२] यह बीज कही नायक आदि का व्यापार रूप होता है, कही नायक पर पडने वाले संकटो का निर्देश रूप होता है, कही सकटो के समक्ष न झुकने वाले नायक का व्यक्तित्व रूप होता है एवं कही व्यसन के उपनिपात का वर्णन कर उससे निवृत्ति-रूप होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह बीज रूप उपाय नाटकों के आख्यान वस्तु के अनुसार विभिन्न रूप होता है। पुनश्च नाटक का अवसान जिस रूप मे होता है, उसी के अनुसार नाटक के प्रारम्भ मे बीजारोपण किया जाता है।

अपने अर्थ मे प्रवृत्त जो चेतन हेतु प्रधान के प्रयोजन को सम्पादित कराता है, उसे **'पताका'** कहते हैं[३]। रामायण मे सुग्रीव व विभीषण का वृत्तान्त 'पताका' है। सुग्रीव अपने राज्य और पत्नी को वापस दिलाने के स्वार्थ को सिद्ध कर राम का सहायक बना है। दशरूपककार[४] ने 'पताका'

---

१ स्तोकोद्दिष्ट फलप्रान्त:, हेतुर्बीज प्ररोहणात्। (नाट्यदर्पण, पृ० ३७)

२ रत्नावली प्रथम अङ्क, ६

३. स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतन परस्य प्रधानस्य प्रयोजन सम्पादयति स प्रसिद्धि प्रासादस्यहेतुत्वात् पताकेव पताका। (नाट्यदर्पण, पृ० ३९)

४. दशरूपक, प्रथम प्रकाश।

तथा 'प्रकरी' को प्रासङ्गिक वृत्त का ही दो भेद माना है, किन्तु नाट्यदर्पणकार ने नायक के सहायक तथा उससे सम्बद्ध वृत्त को पताका माना है क्योंकि ऐसा किए बिना इसे अर्थप्रकृति का प्रकार नहीं माना जा सकता है। यहाँ पताका का प्रकरण होने से 'पताका स्थान' का भी लक्षण कर देना असगत न होगा।

'पताका-स्थान' पताका से बिलकुल भिन्न वस्तु है। 'पताका-स्थानों' की चर्चा जहाँ अभीष्ट होती है, वहाँ 'पताका स्थान' शब्द का प्रयोग किया जाता है, न कि 'पताका' शब्द का। केवल 'पताका' शब्द का प्रयोग करने से 'पताका-स्थान' का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। पताका-नायक के समान इसकी निरन्तर उपस्थिति वाञ्छनीय नहीं है, अतएव 'पताका-स्थान' पताका-नायक से भिन्न है। यह 'पताका स्थान' पताका स्वरूप नहीं अपितु प्रधानोपकारकत्व की समानता के कारण पताका के तुल्य है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार सोचे हुए प्रयोजन तथा उपाय से अन्य प्रयोजन तथा उपाय की प्राप्ति जहाँ इतिवृत्त के प्रधान फल की सिद्धि में उपकारिणी होती है, वह कथाभाग 'पताका-स्थान' कहा जाता है[1]। 'पताका-स्थान' नाट्यरूप काव्य का मण्डनस्वरूप है। एक भी पताका-स्थान नाट्य या काव्य का सौन्दर्याधायक होता है, फिर जहाँ दो या तीन या चार पताका-स्थान पाए जायें, वहाँ क्या कहना?

नाट्यदर्पणकार ने भरत के ही मत के आधार पर पताका-स्थान के चार भेदों को स्वीकार किया है। ये भेद निम्न हैं—

(क) जहाँ अकस्मात् ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो, वहाँ पहले प्रकार का 'पताका स्थान' होता है[2]। यथा 'रत्नावली' नाटिका में वासवदत्ता के रूप में सागरिका को लतापाश से मरता देखकर राजा उसे वासवदत्ता ही समझता है। उसके निकट पहुंचने पर राजा उसे पहचानता है, तब उसके अभीष्ट की सिद्धि होती है।

(ख) काव्य में जहाँ प्रकृत सम्बद्ध और अङ्गनार्थ वचन पाए जायें, वहाँ दूसरे प्रकार का 'पताका-स्थान' होता है[3]। यथा रामाभ्युदय के द्वितीय अङ्क में सुग्रीव की सीता के प्रति निम्न सदेशोक्ति—'अत्यधिक कहने की यहाँ क्या आवश्यकता? समुद्र के पार में भी स्थित तुम्हें रामचन्द्र जी शीघ्र ही ले

---

१ चिन्तितार्थात् परप्राप्ति, वृत्ते यत्रोपकारिणी।
पताकास्थानक तत् तु..... ....॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ३९)

२. नाट्यदर्पण, पृ० ३९

३ नाट्यदर्पण, पृ० ४०

जायेंगे।' 'समुद्र-पार में भी स्थित' यहाँ अतिशयोक्ति होते हुए भी सीता के प्रति प्रकृत सम्बद्ध है।

(ग) जहाँ श्लेष आदि के द्वारा चिन्तित अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ तीसरा **'पताका स्थान'** होता है[1]। यथा 'रत्नावली' में निम्न उक्ति–
'प्रीत्युत्कर्षकृतोदशामुदयनस्येन्दोविवोदीक्षते'

यहाँ काव्य में प्रयुक्त सन्ध्या वर्णन का, प्रयोजन से सागरिका के प्रति उदयनाभिव्यक्ति जो अन्य प्रयोजन है सम्पादन किया गया है।

(घ) यदि किसी के द्वारा अविज्ञात अर्थ उपक्षिप्त हो तो अन्याभिप्राय से प्रयुक्त, प्रस्तुत से भी सम्बन्धित एवं विशेष रूप से निश्चयात्मक वाक्य 'पताका-स्थान' का चतुर्थ भेद है[2]। यथा मुद्राराक्षस में—

'चाणक्य—क्या दुरात्मा राक्षस पकड़ में आ सकेगा ?'

इस प्रकार के अप्रकट अर्थ के प्रस्तुत होने पर अन्य कार्यवश चाणक्य के पास आया हुआ सिद्धार्थक प्रविष्ट होकर कहता है–'आर्य ! ग्रहण कर लिया' इस प्रकार सिद्धार्थक द्वारा कहा गया यह प्रत्युत्तर प्रस्तुत राक्षसग्रहणरूप अर्थ से सम्बद्ध होने के साथ विशेष रूप से राक्षस के पकड़े जाने का निश्चय करने वाला हो जाता है।

स्वार्थ की अपेक्षा न करता हुआ एवं वृत्तैकदेशगत होता हुआ भी मुख्य नायक के प्रयोजन को सम्पादित करने वाला चेतन सहायक **'प्रकरी'** कहा जाता है[3]। रामायण में छोटे छोटे वृत्त प्रकरी हैं। यथा जटायु आदि की कथाएँ। जैसे वृक्ष की रक्षा के लिए छोटे छोटे साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार नायक को भी धर्म, अर्थ तथा काम रूप वृक्ष की रक्षा के लिए ऐसे ही छोटे-छोटे सहायकों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हें ही 'प्रकरी' कहते हैं। 'पताका-नायक' स्वार्थ की सिद्धि के साथ साथ प्रधान–नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होता है, जब कि 'प्रकरी' अपने किसी स्वार्थ की अपेक्षा न रखकर निरपेक्ष भाव से नायक की सहायता किया करता है। पुनश्च 'प्रकरी' का चरित्र वृत्तैकदेशगत हुआ करता है, जब कि 'पताका-नायक' का चरित्र मुख,

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० ४०

२. नाट्यदर्पण, पृ० ४१

३ प्रकरी चेत् क्वचिद् भावी, चेतनोऽन्य प्रयोजन ।

(नाट्यदर्पण, पृ० ४१)

प्रतिमुख, गर्भ एवं विमर्श इन चारों सन्धियो मे व्यापक हो सकता है। यही 'पताका' और 'प्रकरी' का भेद है।

नाट्य मे कुछ अनुष्ठानो के प्रति व्यवधान उपस्थित हो जाता है ऐसी परिस्थित मे उस कार्य के सम्पादनार्थ नायक व प्रतिनायक आदि के अनुसन्धान को, विचारात्मक फल लाभ के प्रति उपायभूत होने के कारण, 'विन्दु' कहते हैं[1]। यथा बीज-वपन के बाद बिन्दु-निक्षेप करना पड़ता है, उसी प्रकार नाटक का नायक भी अपने धर्म, अर्थ एवं काम रूप फल के लिए बीज-वपन के अनन्तर विन्दु-निक्षेप करता है। विन्दु के रूप मे नायक के प्रयत्नो का अभिव्यञ्जन होता है। 'विन्दु' वृत्त मे ठीक उसी तरह प्रसारित होता है जैसे तैल-विन्दु जल में। बीज के समान ही 'विन्दु' भी सारे नाटक मे अन्त तक विद्यमान रहता है। अन्तर केवल इतना ही है कि बीज मुखसन्धि के आरम्भ मे ही निबद्ध होता है, जबकि 'विन्दु' का निक्षेप उसके बाद किया जाता है।

प्रारम्भावस्था के रूप मे निक्षिप्त बीज को पूर्णता तक पहुँचाने वाले सैन्य, कोश, दुर्ग, सामादि उपाय रूप, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि सारे ही अचेतन साधनभूत अर्थ, चेतनो के द्वारा साध्य की सिद्धि मे विशेष रूप से प्रवृत्त कराया जाता है। इसी से इन्हे 'कार्य' कहा जाता है[2]।

ये पाँचो उपाय सर्वत्र अपरिहार्य नही हैं किन्तु आवश्यकतानुसार ही रूपक मे इनका प्रयोग किया जाता है। नाटक मे आद्योपान्त सर्वत्र रहने के कारण 'बीज' तथा 'विन्दु इन दोनो की मुख्यता है। 'पताका', 'प्रकरी' और 'कार्य' इन तीनो उपायो की तो मुख्यफल के प्रति उपयोगिता की दृष्टि से कही एक की, कही दो की अथवा कही तीनो की मुख्यता और शेष की गौणता होती है।

नायक के चरित का प्रत्यक्ष रूप से निबन्धन 'अङ्क' मे होता है। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम आदि रूप पाँच अवस्थाओं मे से किसी भी एक अवस्था का आरम्भ और पूर्णता द्वारा समाप्ति अङ्क की नियामिका होती है। इसको अङ्क मे दिखाना चाहिए। एक दिन मे न हो सकने वाले दूर-देशगमन आदि के कारण असमाप्त अवस्था का विच्छेद भी अङ्क का नियामक है। पूर्व एवं उत्तरवर्ती अङ्क परस्पर असम्बद्ध न हो जायें इसलिए पूर्व अङ्क के अन्त मे 'बिन्दु' की रचना करनी चाहिए। 'अङ्क' को दो घड़ी से लेकर चार प्रहर तक के दर्शनीय अर्थ से युक्त होना चाहिए।[3]

---

१. हेतोश्छेदेऽनुसन्धान, बहूना बिन्दुराफलात्। (नाट्यदर्पण, पृ० ४१)

२ साध्ये बीजसहकारी, कार्यम्। (नाट्यदर्पण, पृ० ४१)

३. अवस्थायाः समाप्तिर्वा, छेदो वा कार्ययोगत ।
अङ्क. सबिन्दुर्द्दश्यार्थ चतुर्यामो मुहूर्ततः ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ३०)

एक अङ्क मे बहुत से अवान्तर कार्यो का निबन्धन नही होना चाहिए। जहाँ बहुत से अवान्तर कार्यों का निबन्धन आवश्यक ही हो, वहाँ परस्पर अविरोधी कार्यों का ही वर्णन श्रेयस्कर है। कार्योपयोगी अल्पपात्रो का ही प्रवेश रङ्गमञ्च पर कराना चाहिए। इन पात्रो की सख्या पाँच से लेकर दस तक ही होनी चाहिए क्योकि पात्रो को अधिक भीड लगा देने से प्रेक्षको के लिए अभिनय अनिभावनीय हो जाता है। बहुसख्यक पुरुषो से साध्य पर्वतोद्धरणादि कार्यों का प्रदर्शन रंगमञ्च पर नही करना चाहिए। रंगप्रविष्ट पात्रो को अपना कार्य समाप्त करके जवनिका से चला जाना चाहिए। जब प्रत्येक अवस्था के लिए एक-एक अङ्क का नियोजन हो तब नाटक पाँच अङ्को का होना चाहिए। नाटक मे अङ्को की सख्या अधिक से अधिक दस होनी चाहिए।

अङ्क मे वध, पलायन और सन्धान की योजना नही करनी चाहिए। यदि इनकी योजना की जाय तो उसे विशिष्ट फल से सम्बन्धित होना चाहिए। नाट्यशास्त्र[1] के बीसवें अध्याय मे भरत उल्लेख करते हैं कि क्रोध, पागलपन, शोक, शाप, परित्याग, भगदड, विवाह एव अद्भुत रस से सम्बन्ध रखने वाली बातें तो प्रत्यक्ष दिखाई जायँ किन्तु युद्ध, राज्य विप्लव, मरण, नगररोध, आदि कार्यों को प्रत्यक्ष न प्रदर्शित कर इनकी सूचना ही देनी चाहिए। धनञ्जय ने भी लम्बी यात्रा, वध, युद्ध, राज्य व देश की क्रान्ति, पुरी का घेरा डाल देना, भोजन, स्नान, सुरत, उबटन, लगाना एव वस्त्रो का पहनना आदि प्रत्यक्ष रूप से नही दिखाने के लिये कहा है। इनके अनुसार प्रवेशक आदि के द्वारा इनकी सूचना देनी चाहिये[2]। नाट्यदर्पणकार का मत इन्ही

---

१ क्रोधप्रमादशोका शापोत्सर्गोथ विद्रवोद्वाहौ।
अद्भुतसश्रयदर्शनमङ्क प्रत्यक्षजानि स्यु ॥
युद्धो राज्यभ्रंशो मरण नगररोधन चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकै. सविधेयानि ॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, २०–२१)

२ दूराध्वयान वध युद्ध राज्यदेशादि विप्लवम्॥
सरोध भोजन स्नान सुरत चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्॥
(दशरूपक, तृतीय प्रकाश, ३४ व ३५)

उपर्युक्त मतो से साम्य रखता है। इनके अनुसार भी नगररोध आदि का वर्णन विष्कम्भकादि के द्वारा ही होना चाहिये क्योकि सेना, यन्त्र एव सुरङ्ग आदि का प्रदर्शन रगमञ्च पर नही दिखाया जा सकता है। आलिङ्गन, चुम्बन, प्राणनिर्गम आदि को भी सूचित ही करना चाहिए[1]। आगे चलकर विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद मे नाट्य-निषिद्ध क्रियाओं की गणना की है। इन्होने उपर्युक्त ग्रथ मे इस प्रसङ्ग मे 'दूराध्वानम्' के स्थान पर 'दूराह्वानम्' का उल्लेख किया है। परन्तु 'दूराह्वानम्' अर्थात् दूर से पुकारने की बात समस्त नाटको मे पायी जाती है। यथा 'विक्रमोर्वशीय' मे अप्सराएँ पुकारती हैं—परित्रायताम्। परित्रायताम्। इसी प्रकार 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रारम्भ मे भी कण्व ऋषि दूर से पुकारते हैं। अत नाट्यदर्पणकार ने जो 'दूराध्वयानम्' लिखा है, वही अधिक तर्कसंगत है क्योंकि रगमञ्च पर दूर तक का मार्ग सम्भव नही है।

इन उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट है कि अङ्क मे निम्न तीन प्रकार के कार्य निषिद्ध बतलाये गए है—

(क) साधारण लोक मे सबके समक्ष न किए जाने योग्य।

(ख) भयकर, वीभत्स एव लोमहर्षक कार्य।

(ग) रगमञ्च पर प्रदर्शन के अयोग्य।

सन्धि

नाटक मे कई कथाशो का निबन्धन रहा करता है। उन प्रत्येक कथाशो का प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न ही हुआ करता है। एक ही प्रयोजन को लक्ष्य मे रखकर जहाँ भिन्न-भिन्न कथाश परस्पर अन्वित कर दिये जाते हैं वहाँ पर उन भिन्न-भिन्न कथाशो का अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्धित होना ही सन्धि है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार नाटक के कथाभाग के अश, परस्पर अपने रूप से और अङ्गो के साथ मिलने हैं इसलिये 'सन्धि' कहलाते हैं[2] नाटक मे वर्णनीय कथाभाग को प्रारम्भ आदि अवस्थाओ के भेद से पाँच भागो मे विभाजित किया जाता है। उनमे से प्रत्येक भाग बारह-तेरह आदि

---

१ दूराध्वयान पुरोध, राज्यदेशादि विप्लव ।

रतं मृत्यु रामीत्यादि, वर्ण्यं विष्कम्भकादिभि ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ३३)

२ मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्याशा भागा. परस्परं स्वरूपेण चाङ्गै सन्धीयन्त इति सन्धय,............ ....(नाट्यदर्पण, पृ० ४८)

अङ्गो की संख्या मे विभक्त किया जाता है। इन्हें ही पाच सन्धि और बारह-तेरह सध्यङ्ग कहते हैं।

'सन्धि' का अर्थ है—सन्धान करना। नाटक के किसी भी कथानक का उचित रूप से निर्वाह करने के लिए उसको भागो मे विभक्त कर देना चाहिए। इससे कथानक का सन्धान उचित रूप मे हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्धियो का मुख्य उद्देश्य है कथानक का उचित रूप में सन्धान करना। इसके अतिरिक्त सन्धि के कई अङ्ग भी हैं। नाटक में उनका भी नियोजन अत्यन्त उपादेय है। नाटक की रचना करते समय यदि नाटककार सन्धि के अङ्गों पर ध्यान देता है तो उसके लिए इष्ट अर्थ का समावेश करना सुगम हो जाता है। वह नाटक मे सरलतापूर्वक एव सुगमता के साथ अभीष्ट अर्थों का समावेश कर सकता है। नाटक मे बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनका रगमञ्च पर प्रदर्शन उचित नहीं माना गया है। 'सन्धि' के अङ्गो का ध्यान रखने से उन निषिद्ध कथाशों का परित्याग भी सफलता-पूर्वक किया जा सकता है। जिस बात को प्रकट करना नाटककार को अभीष्ट है, उसे प्रकट करने के लिए भी नाटककार को सध्यङ्गो का ध्यान रखना चाहिए। यदि नाटककार सध्यङ्गो का ध्यान नही रखता है तो बहुत सम्भव है कि वह किसी प्रकट करने योग्य अर्थ को भूल जाय। अतएव सन्धि के अङ्गो का ध्यान रखना आवश्यक है। इन अङ्गो से एक लाभ यह भी है कि इनसे दर्शकगण मे नाटक के प्रति विराग नहीं उत्पन्न हो पाता है क्योंकि इनसे रचना अत्यन्त सुगठित हो जाती है। नाटक म चमत्कार लाने के लिए भी इन सध्यङ्गो की सहायता लेनी पडती है। इनका ध्यान रखने से वृत्तान्त क्षीण नहीं हो पाता है। सम्भवत इन्ही तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे कहा है—'जिस प्रकार अङ्गहीन मनुष्य युद्ध के अयोग्य होता है, उसी प्रकार अङ्गहीन काव्य भी प्रयोग के लिए अनुपयुक्त रहता है'।[1]

किन्तु समस्त नाटको मे इन सध्यङ्गो का क्रमश प्रयोग ही हो, यह आवश्यक नही है और न यही आवश्यक है कि इन समस्त सधियो और सध्यङ्गो का प्रयोग ही किया जाय। यदि इन सधियो से एव इनके अङ्गो से कथानक का निर्वाह ठीक रूप मे हो जाता है तब तो इनका प्रयोग करना

१. नाट्यशास्त्र, २१–५४ (Translation of the Natya sāstra by M Ghosh)

चाहिए अन्यथा नही। वस्तुत मुख्य बात तो यह है कि यदि नाटककार अपनी नाटक-रचना पर ध्यान दे तो सन्धि एव सध्यङ्ग उस नाटक मे स्वय ही आ जायेंगे। परन्तु यदि कोई नाटककार सन्धि एव सध्यङ्ग के फेर में पडकर नाटक-निर्माण मे सलग्न रहेगा तब तो उसका नाटक 'नाटक' न होकर सन्धि एव सन्ध्यङ्ग की उदाहरणमाला बन जायेगा। इसलिए यदि सधियो से कथानक मे व्याघात उपस्थित हो तो इन सन्धियो का यथास्थान परित्याग भी कर देना चाहिए।

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ हैं। ये पाँचो सन्धियाँ प्रारम्भ मे आदि अवस्थाओ से अनुगत रहती हैं। नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी में समस्त सन्धियो का होना आवश्यक है क्योंकि उपर्युक्त रूपको मे पाँचों अवस्थाओ का निबन्धन रहा करता है। 'समवकार' आदि मे यदि समस्त सन्धियाँ न हो तो कोई दोष नहीं है क्योंकि इनमे समस्त अवस्थाओ का वर्णन नहीं रहा करता। इन रूपको मे आरम्भ और यत्न का प्रदर्शन कर सफलता की आशा का प्रदर्शन किया जाता है। तदनन्तर फल-प्राप्ति का भी वर्णन किया जाता है। कुछ अन्य रूपकों मे तो दो ही सन्धियो का सन्निवेश पाया जाता है क्योकि उनम आरम्भ के बाद ही फल-प्राप्ति का प्रदर्शन किया जाता है। कहने का साराश है कि जिन रूपकों में जितनी अवस्थाओं का प्रदर्शन होगा, उतनी ही सन्धियो का भी नियोजन किया जायगा। इन पाँचो सन्धियों मे मुख और निर्वहण सन्धियो की ही प्रमुखता है क्योंकि प्रतिमुख, गर्भ और अवमर्श सन्धियो का यथावसर परित्याग भी किया जा सकता है। यदि रूपक मे किसी एक सन्धि का परित्याग करने की आवश्यकता आ पडे तो गर्भसन्धि का परित्याग करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि तब आरम्भ और यत्न का प्रदर्शन कर सफलता की आशा का निबन्धन करना चाहिए। तदनन्तर फल-प्राप्ति को भी प्रदर्शित करना चाहिए। यदि दो सन्धियो को छोडना हो तो गर्भ और विमर्श को छोड देना चाहिए। यदि तीन सन्धियों का परित्याग करना पडे तो मुख, गर्भ और विमर्श सन्धि को छोड़ देना चाहिए 'आरम्भ' के बाद फल-प्राप्ति का ही प्रदर्शन करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख और निर्वहण इन दो सन्धियों के अतिरिक्त हम समस्त सन्धियो का परित्याग कर सकते हैं। जब तक हम नाटक में आरम्भावस्था का वर्णन नहीं करेंगे, नाटक प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि फल-प्राप्ति का प्रदर्शन नहीं किया जायेगा तो नाटक अधूरा ही रहेगा। आरम्भ एव फलागम इन

दो अवस्थाओ के वर्णन करने का तात्पर्य है कि मुख और निर्वहण सन्धियो का समावेश स्वय ही हो जायगा ।

सन्धि के स्वरूप के विषय मे धनञ्जय आदि विद्वानो से नाट्यदर्पणकार का भिन्न मत है । धनञ्जय के अनुसार सन्धियो मे प्रारम्भ आदि अवस्थाओ एव बीज आदि अर्थप्रकृतियो का सन्निवेश पाया जाता है[१] । परन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार पञ्चसन्धियो के लिए पञ्च अवस्थाओ का उपनिबन्धन आवश्यक है, पञ्च उपायो (अर्थप्रकृतियो) का नहीं । इन्हें पञ्च अर्थप्रकृतियो का सन्निवेश क्यो नही अभिप्रेत है ? इसका उत्तर इन्होने स्वय नही दिया है । इसके अभिप्रेत न होने का एक ही कारण हो सकता है कि यदि अर्थप्रकृतियो का भी सन्निवेश आवश्यक माना जाय तब इसका तात्पर्य यह होता है कि गर्भ और अवमर्श सन्धियो मे पताका और प्रकरी अर्थप्रकृतियो का भी समावेश अवश्य होगा । परन्तु नाट्यदर्पणकार पताका और प्रकरी अर्थप्रकृतियो का समावेश ही रूपक मे आवश्यक नही मानते । यह तर्कसगत भी है क्योकि इन दोनो के बिना भी रूपक की रचना हो सकती है । इनकी आवश्यकता उसी दशा मे है जब मुख्य नायक को सहायता की अपेक्षा हो । जिस नायक को इस प्रकार के सहायक की अपेक्षा नही होती, उसके चरित्र को लेकर लिखे गए नाटक की रचना इसके बिना भी की जा सकती है । इस प्रकार नाट्यदर्पणकार के अनुसार पताका और प्रकरी का प्रयोग नाटककार की इच्छा पर ही अवलम्बित है । जब इन दो अर्थप्रकृतियो का रूपक मे प्रयोग ही नही आवश्यक है, तब इन्हें सन्धि के लिए आवश्यक माना ही कैसे जा सकता है ? इस प्रकार यही कारण हो सकता है जिससे नाट्यदर्पणकार ने सन्धि मे अर्थप्रकृतियो का सन्निवेश आवश्यक नही माना है । इनके अनुसार बीज और विन्दु इन्ही दो अर्थप्रकृतियो का सन्निवेश रूपक मे आवश्यक है, अन्य पताका एव प्रकरी आदि अर्थप्रकृतियो का सन्निवेश किसी नाटक मे सम्भव है, नाटक मात्र मे नही । इस प्रकार हम देखते हैं कि पताका और प्रकरी की स्थिति को आवश्यक न मानने से ही सन्धि मे अर्थप्रकृतियो का सन्निवेश आवश्यक नही है ।

नाटक की प्रथम सन्धि 'मुखसन्धि' है । इस सन्धि मे रूपक के बीज की सूचना दी जाती है । रस एव भाव आदि से रमणीय मुखसन्धि

---

१ अर्थप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्था समन्विता ।
यथासख्येन जायन्ते मुखाद्या पञ्चसन्धय ॥ (दशरूपक, प्रथम प्रकाश)

प्रारम्भावस्था मे होने के कारण मुख के समान है[1]। 'रत्नावली' नाटिका मे 'मुखसन्धि' आरम्भ से लेकर दूसरे अङ्क के उस स्थान तक है जहाँ कुमारी रत्नावली राजा का चित्र अंकित करने का निश्चय करती है। इस सन्धि के निम्न बारह भेद हैं—

उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, समाहिति, उद्भेद, करण, विलोभन, भेदन, प्रापण, युक्ति, विधान और परिभावना[2]। इनमे प्रथम तीन अङ्गों का सन्धि के आरम्भ मे क्रमशः निबन्धन करना चाहिए, क्योकि उपक्षिप्त किए बिना अर्थ का विस्तार नही किया जा सकता है एवं विस्तार किए बिना निश्चय भी नहीं किया जा सकता है। 'समाहिति' अङ्ग का निबन्धन मुखसन्धि के मध्य में एवं 'उद्भेद' और 'करण' को अन्त मे निबद्ध करना चाहिए।

उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, समाहिति, उद्भेद एवं युक्ति इन छः अङ्गों का मुखसन्धि मे निबन्धन अवश्य करना चाहिए। विलोभनादि अन्य अङ्ग तो सभी सन्धियों मे हो सकते हैं क्योकि रचनानुसार उनका कार्य अन्य सन्धियो में भी हो सकता है। 'भेद' नामक आठवें अङ्ग को समस्त सन्धियों मे, अङ्क के अन्त में, प्रवेशक तथा विष्कम्भक के अन्त मे अवश्य प्रयुक्त करना चाहिए क्योकि यह पात्र-परिवर्तन रूप होता है।

यदि वास्तव मे विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये उपर्युक्त अङ्ग आचार्यों की सूक्ष्म भागोपभाग करने की रुचि के सूचकमात्र ही हैं। इन समस्त अङ्गो का निबन्धन किसी भी नाटक मे सम्यक् रूप से नही किया जा सकता है। इसीलिए प्रारम्भ के ही छः अङ्गो का निबन्धन आवश्यक बताया गया है। अब हम उपर्युक्त संध्यङ्गो का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

आगे चलकर विस्तृत होने वाले कथावस्तु का मूलभूत भाग, जो धान्य आदि बीज के समान होता है, बीज कहलाता है। ऐसे बीज के आवाप-मात्र

---

१. मुखं प्रधानवृत्तांशः, बीजोत्पत्ति रसाश्रय.। (नाट्यदर्पण, पृ० ४८)

२. उपक्षेपः परिकरः परिन्यासः समाहितिः।
उद्भेदः करणं चैनान्यर्नवाप विलोभनम्॥
भेदनं प्रापणं युक्तिः विधानं परिभावना।
मर्वमन्धिष्वमूनि स्यु., द्वादशाङ्गं मुखं ध्रुवम्॥
(नाट्यदर्पण, पृ० ५२)

को उपक्षेप कहते हैं[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि बीज के समान सूक्ष्म प्रस्तुत इतिवृत्त की सूचना का सक्षेप मे निर्देश कर देना 'उपक्षेप' है। यथा 'रत्नावली' नाटिका मे नेपथ्य की यह उक्ति कि अनुकूल होने पर दैव ईप्सित वस्तु को दूसरे द्वीप से, जलनिधि के मध्य से अथवा दिशाओ के अन्त से कही से भी लाकर शीघ्र मिला देता है[2]। उपर्युक्त नाटिका मे रत्नावली की प्राप्ति ही कार्यरूप है। इस कार्य के बीज की सूचना यौगन्धरायण के द्वारा नेपथ्य से दी गई है। इस प्रकार यहाँ 'रत्नावली' प्राप्तिरूप कार्य के बीज का न्यास होने से 'उपक्षेप' है।

उपक्षिप्त अर्थ को विशेष वचन के द्वारा थोडा-सा फैला देना **परिकर** है[3]। इस अङ्क में प्रस्तुत सूक्ष्म इतिवृत्त के विषय को विस्तृत कर दिया जाता है। यथा 'वेणीसंहार' के प्रथम अङ्क मे भीमसेन की निम्न उक्ति कि कौरवो के साथ मेरी शत्रुता शैशवकाल से ही वृद्धि को प्राप्त कर रही है, उसमे न तो आर्य, न अर्जुन और न तुम दोनो कारण हो। जरासन्ध के उर स्थल की भाँति इस सन्धि को क्रोध के साथ यह भीम तोडता है[4]। यहाँ 'वेणीसंहार' मे भीमसेन पूर्वोत्पन्न युद्ध वृत्तान्त रूप काव्यार्थ को सन्धिविघटन से विस्तृत करता है। वह अपने बीज को प्रकाशित करते हुए उसे दृढ करता है।

बीज का वपन कर देने से तथा उसके पल्लवित होने से जैसे कृषक को फल-लाभ की पूर्ण आशा रहती है, वैसे ही नाटक के पात्र को भी बीज का आवाप करने से फल के प्रति आशा रहती है। इसी आशा का निबन्धन **परिन्यास** मे किया जाता है[5]। इसमे विस्तारित अर्थ का विशेष रूप से निश्चय रहता है। यथा 'वेणीसंहार' मे भीम की यह उक्ति कि हे देवि! यह भीम अपने चञ्चल भुजाओं को घुमाते हुए भीषण गदा के अभिघात से सुयोधन के उरु युगलो को चूर्ण करता हुआ तथा उससे निकाले गए गाढे रक्त से हाथो को रक्तमय करता हुआ तुम्हारे केश को सँवारेगा[6]। उपर्युक्त उक्ति 'परिन्यास' का उदाहरण है क्योकि भीमसेन के द्वारा सुयोधन का

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ५३
२. रत्नावली, प्रथम अङ्क, ६
३ नाट्यदर्पण, पृ० ५३
४. वेणीसहार, प्रथम अङ्क, १०
५. नाट्यदर्पण, पृ० ५४
६. वेणीसंहार, प्रथम अङ्क, २१

वध ही 'वेणीसंहार' नाटक का फल है और इस फल के प्रति भीमसेन को पूर्ण आशा है।

उपक्षिप्त बीज का, और अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादनार्थ विचित्र भाषण-शैली से, दुबारा कथन समाहिति है[1]। यथा 'वेणीसंहार' में निम्न. नेपथ्योक्ति—

'जिस क्रोध की ज्वाला को युधिष्ठिर ने व्रतभंग की आशङ्का से यत्न के साथ मन्द किया था, कुल की मङ्गल से विस्मृत कर दिया था, वह द्यूत-रूपी अरणी में सम्भूत युधिष्ठिर की क्रोध-ज्योति द्रौपदी के केश और वस्त्र के खींचे जाने से कौरव-वन मे जँभाई ले रही है'[2]। यहाँ कवि को इतना ही कहना अभिप्रेत था कि द्रौपदी के केश और वस्त्र के खींचे जाने से युधिष्ठिर क्रोधित हो गए हैं परन्तु इसी बात को उसने बड़े ही आलंकारिक ढंग से कहा है, अतएव यहाँ 'समाहिति' है।

प्रस्तावना के अनन्तर उस बीज का थोड़ा-सा प्ररोह उद्भेद है।[3] 'उद्भेद' अङ्ग मे बीज कुछ अङ्कुरित हो जाता है। वह धीरे-धीरे प्रकट होने लगता है। जैसे बीज-वपन के बाद बीज मे अंकुर का फूटना स्वाभाविक है, वैसे ही यहाँ भी प्रस्तावना के अनन्तर डाले गए बीज (मुख्यभूत अंश) का प्ररोह होने लगता है। यह स्वाभाविक ही है।

दशरूपककार धनञ्जय के अनुसार जहाँ छिपे हुए गूढ़ अर्थ को प्रकट कर दिया जाता है, वहाँ 'उद्भेद' होता है।[4] वास्तव में यदि देखा जाय तो इन दोनो विद्वानो के मत मे कोई भेद नही है, केवल कहने की शैली में ही अन्तर है। दोनों ही परिभाषाएँ एक ही अर्थ का अवबोधन कराती हैं।

प्रस्तुत क्रिया को करण कहते हैं अर्थात् प्रसङ्ग के अनुकूल क्रिया का प्रारम्भ 'करण' है[5]। कुछ विद्वान बाधाओं के शमन को 'करण' मानते हैं। परन्तु यह मत अधिक युक्तियुक्त नहीं है। नाट्यदर्पणकार की परिभाषा इस परिभाषा की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है क्योंकि प्रस्तुत क्रिया का सम्पादन या तो हमारी बाधाओं का शमन करता है या अभीष्ट की प्राप्ति कराता

१. नाट्यदर्पण, पृ० ५४
२ वेणीसंहार, प्रथम अङ्क, २४
३. नाट्यदर्पण, पृ० ५५
४. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ३९
५. नाट्यदर्पण, पृ० ५६

है। यदि बाधाओं के शमन को ही 'करण' माना जाय तब तो यह मत एकाङ्गी रहेगा। तब पुन जिस क्रिया से अभीष्ट की प्राप्ति हो, उसके लिए हमे एक अतिरिक्त सध्यङ्ग की कल्पना करनी पड़ेगी जिससे गौरव होगा।

जहाँ एक पात्र किसी दूसरे पात्र की प्रशसा करके उसमे किसी अभीष्ट कार्य के प्रति राग उत्पन्न करता है, वहाँ विलोभन होता है[1]। यथा वेणीसहार' मे चञ्चद् भुजभ्रमित' इत्यादि श्लोक के अनन्तर द्रौपदी की निम्नोक्ति—

'स्वामिन्! आपके क्रुद्ध हो जाने पर कौन कार्य कठिन है? ईश्वर करे आपके इस विचार से आपका भ्रातृवर्ग सहमत हो जाय'। यहाँ द्रौपदी ने प्रथम पक्ति मे तो भीमसेन की प्रशसा की है और अन्त मे युद्ध के प्रति उसके हृदय मे राग का सञ्चार किया है।

'विलोभन' अङ्ग मुखसन्धि के अतिरिक्त अन्य सन्धियो मे भी हो सकता है। इसीलिए इसका नाम परिन्यास के बाद न रखकर अन्य सन्धियो मे भी होने वाले अङ्गो के साथ रखा गया है। दशरूपककार के अनुसार गुण का आख्यान 'विलोभन'[2] है। यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो नाट्यदर्पणकार की परिभाषा धनञ्जय की परिभाषा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण एव मनोवैज्ञानिक है। धनञ्जय ने केवल इतना ही कहा है कि गुणाख्यान 'विलोभन' है। 'गुणाख्यान' और 'स्तुति' पर्यायवाची शब्द है। जब हम किसी की स्तुति करते हैं तब इतना निश्चित रहता है कि हम उसे किसी अभीष्ट कार्य की ओर उकसाते हैं। इस प्रकार 'गुणाख्यान' व 'स्तुति' को विलोभन न मानकर गुणाख्यान व स्तुति के द्वारा राग प्राप्त कराना ही 'विलोभन' मानना चाहिए।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार पात्रो का निर्गम भेदन है अर्थात् जहाँ पात्र रङ्गमञ्च से नेपथ्य की ओर चले जाते है वहाँ भेदन' होता है[3]। दशरूपककार के अनुसार पात्रो को बीज के प्रति प्रोत्साहित करना 'भेदन' है। अन्य विद्वानो के अनुसार बीज की फलोत्पत्ति का अवरोध करने वाले सहत शत्रुओ के फोडने वाले भेदरूप उपाय ही 'भेदन' है। उपर्युक्त तीनो परिभाषाओ का यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तीसरी परिभाषा ही पूर्णतया स्पष्ट एव मनोवैज्ञानिक है। पात्रो के निर्गम को तो 'भेदन' कहा ही नही जा सकता। 'भेदन' का यह अर्थ कभी हो ही

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० ५६

२ दशरूपक, प्रथम प्रकाश, २७

३ नाट्यदर्पण, पृ० ५६

नही सकता। यदि 'पात्र का निर्गम' यह अश मुखसन्धि मे रखना ही है तो इसे 'निर्गम' की ही सज्ञा क्यो न प्रदान की जाय ? पात्र-निर्गम को 'निर्गम' ही कहा जाय, भेदन नही। इसे भेदन' कहना सगत नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार भेदन का अर्थ 'प्रोत्साहित करना' कभी नही हो सकता है। पात्रो को किसी कार्य के प्रति प्रोत्साहित करने को 'प्रोत्साहन' कहना संगत प्रतीत होता है, 'भेदन' कहना नही। 'भेदन' का वास्तविक अर्थ 'भेद करना' ही होता है। 'भेदन' से हम 'विश्लेषण' यह अर्थ अत्यन्त सुगमता से निकाल सकते हैं। विरोधी (बीजफलोत्पत्ति-निरोधक) का विश्लेषण किया जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। लोक मे भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि विरोधी का ही विश्लेषण किया जाता है। अत तीसरी परिभाषा मे जो यह कहा गया है कि विरोधी का विश्लेषण 'भेदन' है यह तो उचित ही है क्योंकि अधिकतर विश्लेषण विरोधी का ही होता है। परन्तु इसी परिभाषा मे यदि 'अविरोधी' शब्द भी जोड दिया जाय तो अत्युत्तम होगा क्योकि लोक मे भी अविरोधी लोगो का भी विश्लेषण यदा-कदा किया जाता है। अब हम 'भेदन' की निम्न व्याख्या कर सकते हैं—

विरोधी (बीजफलोत्पत्ति निरोधक) अथवा अविरोधी (बीज फलोत्पत्ति सहायक) का विश्लेषण ही 'भेदन' नामक मुखाङ्ग है।

सम्यक् अन्वेषण से सुख व सुख के हेतु का प्राप्त होना प्रापण है[1]। यथा 'वेणीसहार' मे भीम की इस उक्ति के कहने पर कि क्या मैं सुयोधन की जघाओ को गदा से चूर्ण नहीं करूँगा ?, द्रौपदी की निम्नोक्ति—

'स्वामिन्! इस शब्द को बार-बार दुहराइये' प्रापण का अच्छा उदाहरण है। सुयोधन ने द्रौपदी की लाज को लूटने का प्रयत्न किया था, अतएव द्रौपदी चाहती है कि भीम क्रोधित होकर सुयोधन की हत्या करें। उपर्युक्त स्थल मे भीम के क्रुद्ध होने पर द्रौपदी को सुख होता है। अतएव वहाँ 'प्रापण' है।

कर्तव्य-सम्बन्धी विचार अथवा दोष गुण के विवेचन को 'युक्ति' कहते हैं[2]। यथा उदात्तराघव मे लक्ष्मण की निम्न उक्ति—

'लोभ से आक्रान्त भरत ने ऐसा किया अथवा मेरी माता ने ही स्त्री स्वभाव के कारण ऐसा तुच्छ कार्य किया।' पुन लक्ष्मण सोचते हैं 'मैंने ये दोनो बातें मिथ्या सोची हैं क्योंकि भरत श्रीरामचन्द्रजी के अनुज हैं, अत

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० ७७

२ नाट्यदर्पण, पृ० ७८

श्रेष्ठ हैं। वे ऐसी बात नही कर सकते। माता कैकेयी भी पिता दशरथ की पत्नी हैं। उनके विषय मे भी कुछ सोचना अनुचित है। अत मैं समझता हू कि यह सब विधाता ने ही किया है।' उपर्युक्त पक्तियो में भरत एव कैकेय के दोप-गुण का विवेचन होने से 'युक्ति' मुखाङ्ग है।

एक पात्र मे अथवा विभिन्न पात्रो मे सुख दु ख का समस्त रूप से अथवा व्यस्त रूप से पाया जाना **विधान** है[१]। यथा 'मालतीमाधव' मे मालती को देखने के बाद एक ही पात्र माधव मे एक साथ ही सुख और दु ख का समस्त रूप से सन्निवेश पाया जाता है। अकेले दु ख की भी प्राप्ति 'विधान' है। इसका अच्छा उदाहरण रामचन्द्र विरचित 'निर्भयभीम व्यायोग' से दिया जा सकता है। 'अन्यायी और दुष्ट शत्रु प्रसन्न हो रहे हैं, मदमत्त हो रहे है। हम न्याय-परायण और सरल दु खी हो रहे हैं'।[२] उपर्युक्त पक्तियो से ज्ञात होता है कि भीम अत्यन्त व्यथित हैं। उनके दु खी होने से यहाँ 'विधान' अङ्ग की प्राप्ति है।

मुखसन्धि के 'प्रापण' नामक अङ्ग की चर्चा पहले की जा चुकी है। सुख-सम्प्राप्ति को ही 'प्रापण' कहते हैं। पुनश्च सुखप्राप्ति को 'विधान' बतलाया गया है। परन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो इन दोनो अङ्गो में पर्याप्त भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। 'प्रापण' मे सुख और सुख के कारण का अन्वेषण किया जाता है। इसके विपरीत 'विधान' अन्वेषण रूप नहीं अपितु सन्निहित सुखस्वरूप तथा एकपात्रगत सुखात्मक होता है। यही 'प्रापण' तथा 'विधान' इन दोनो अङ्गो का भेद है।

अत्यन्त जिज्ञासा उदित होने पर यह क्या है? इस प्रकार का कौतुक सम्बन्ध स्थापित होना विस्मय है। इसी विस्मय को **परिभावना** कहते हैं।[३] यथा 'नागानन्द' की निम्न पक्ति मे—

'यदि यह स्वर्ग मे रहनेवाली स्त्री है तो इन्द्र के सहस्र नेत्र कृतार्थ हो गये। यदि यह नाग स्त्री है तो इस मुखचन्द्र के रहते रसातल चन्द्रमा से शून्य नहीं है। यदि यह विद्याधर है तो हमारी जाति सकल अन्य जातियो पर विजय प्राप्त करने वाली है। यदि यह सिद्धवंश मे उत्पन्न है तो यह वंश त्रिभुवन मे प्रसिद्ध हो जायगा'।[४] उपर्युक्त पक्तियो मे नागानन्द मलयवती को देखकर कौतुक से भर उठता है, अतएव यहाँ परिभावना है।

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० ५९
२. निर्भयभीम व्यायोग, ५
३ नाट्यदर्पण, पृ० ६०
४. नागानन्द, प्रथम अङ्क १६

प्रतिमुखसन्धि

मुखसन्धि मे बीज अल्प रूप से ही प्रकाशित रहता है। परन्तु प्रतिमुखसन्धि मे प्रधानोपाय के उद्घाटन से बीज का प्रबल रूप मे प्रकाशन होता है। मुखसन्धि मे बीज-वपन होता है, प्रतिमुख सन्धि मे वही फूटने लगता है। परन्तु इस सन्धि में भी बीज कुछ अस्पष्ट दशा मे ही रहता है। इस सन्धि में 'प्रयत्न' नामक अवस्था पायी जाती है, अतएव फल-प्राप्ति के लिए अत्यन्त शीघ्रता से उद्योग होता है। मुखसन्धि में दिए हुए प्रधान फल का इस सन्धि मे किञ्चित् विकास होता है। इस प्रतिमुखसन्धि के तेरह अङ्ग हैं—विलास, धूनन, रोध, सान्त्वन, वर्णसंहार, नर्म, नर्मद्युति, ताप, पुष्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और उपसर्पण।[१] इनमे से प्रारम्भ के आठ अङ्गों की कथावस्तु की उपयोगिता के अनुसार प्रयुक्त भी किया जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता है। किन्तु अन्तिम पाँच सन्ध्यङ्गों का निबन्धन आवश्यक है। अब हम प्रतिमुख सन्धि के प्रत्येक अङ्गों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

प्रतिमुखसन्धि का प्रथम अङ्ग **विलास** है। अतएव प्रतिमुखसन्धि के आरम्भ मे ही इस अङ्ग का निबन्धन करना चाहिए। किन्तु सन्धि तथा सन्ध्यङ्गों की रचना रस-प्रयोग के अनुसार ही करनी चाहिए। नाटक-सम्बन्धी नियमो का कठोरता के साथ पालन नही करना चाहिए। इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि मुखसन्धि मे जिस रस का उपक्षेप किया गया है, उसी का पोषण प्रतिमुख सन्धि मे हो रहा है अथवा नही।

नायक और नायिका की परस्पर रति-सम्बन्धी अभिलाषा को 'विलास' कहते हैं। इसका सुन्दर उदाहरण हमे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के द्वितीय अङ्क मे मिलता है, जहाँ शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त रति करने की इच्छा करता है। वह कहता है कि प्रिया शकुन्तला का मिलना आसान नही है किन्तु उसके भावो को देखकर मेरा मन आश्वस्त हुआ है। यदि काम सफल भी नहीं होता तब भी नायक-नायिका की परस्पर प्रार्थना उन दोनो को आनन्दित करती रहती है।[२] 'काम प्रिया न सुलभा' इस पंक्ति से इतना पता चलता है कि दुष्यन्त

---

१. विलासो धूनन रोधः सान्त्वनं वर्णसंहृतिः।
नर्मनर्मद्युतिस्तापः स्युरेतानि यथारुचि॥
पुष्पं प्रगमनं वज्रं उपन्यासोपसर्पणम्।
पञ्चावश्यमङ्गानि प्रतिमुखे त्रयोदश॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ६०, ६१)

२. अभिज्ञानशाकुन्तल, द्वितीय अङ्क, १

अब रति के लिए उत्कण्ठित हो रहा है, अतएव यहाँ 'विलास' प्रतिमुखाङ्ग है।

यद्यपि नाट्यदर्पणकार ने विलास' अङ्ग का लक्षण 'नृस्त्रियोरीहा' किया है तथापि रति-सम्बन्धी अभिलाषा ही इसका अभिप्राय नही है अपितु प्रकृत रस के अनुकूल नायक-नायिका की अभिलाषा 'विलास' है, यह अभिप्राय है।

जहाँ एक पात्र किसी दूसरे पात्र के शान्ति-वचनो का थोडा-सा अनादर कर दे, वहाँ धूनन प्रतिमुखाङ्ग होता है। नाट्यशास्त्र एव दशरूपक मे 'धूनन' के स्थान पर 'विधूत' माना गया है। अरति को 'विधूत' कहते हैं। इसमें अनुनय का तिरस्कार किया जाता है। साहित्यदर्पणकार ने भी 'विधूत' की यही परिभाषा दी है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार अनुनय को स्वीकार न कर थोडा अनादर करना 'धूनन' है। इस प्रकार 'धूनन' एव 'विधूत' मे कुछ भी अन्तर नहीं है, केवल शब्द मात्र का ही भेद है। पुनश्च नाट्यदर्पणकार ने 'धूनन' का जो उदाहरण दिया है, वही उदाहरण 'विधूत' का भी हो सकता है। अतएव इनमे परस्पर भेद नही है।

इष्ट के रोध से जो दुःख होता है, उसे रोध कहते हैं।[१] कभी कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि पात्र को अभीष्ट की प्राप्ति मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। उसके अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति मे रुकावट पड जाती है, जिससे वह दुःखी हो जाता है। इसी को 'रोध' कहते हैं। नाट्यशास्त्र मे 'रोध' के स्थान पर 'निरोध' है परन्तु परिभाषा मे कुछ भी अन्तर नही है। इसलिए 'रोध' एव 'निरोध' तत्त्वत एक ही हैं।

साहित्यदर्पण म 'निरोध' व 'रोध' के स्थान पर 'विरोध' शब्द का प्रयोग किया गया है। दुःख की प्राप्ति 'विरोध' है।[२] इष्ट के रोध से व्यसन की प्राप्ति होती है अतएव विरोध' भी 'निरोध' ही है।

क्रुद्ध को अनुकूल करना सान्त्वन है।[३] इसी को 'पर्युपासन' की सज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। भरत नाट्यशास्त्र मे 'सान्त्वन' के स्थान पर 'पर्युपासन' शब्द का ही प्रयोग किया है। 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क मे 'सान्त्वन' का अच्छा उदाहरण है, जहाँ राजा वासवदत्ता के कुपित होने पर उससे कहता है कि देवि! प्रसन्न हो। तुम्हे कोप नही करना चाहिए। मेरा कुछ भी दोष नही है। तुम्हे मिथ्या आशङ्का हुई है। इस समय क्या कहना चाहिए मैं यह

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ६२
२ साहित्यदर्पण, पृ ३३१
३ नाट्यदर्पण, पृ ६३

भी नहीं जान पा रहा हूं।'[1] यहाँ राजा वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए अनुनय कर रहा है, अतएव यहाँ सान्त्वन है।

पृथक् स्थित पात्रों को कार्य के लिए एकत्रित करना **वर्णसंहृति** है।[2] यथा 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क में राजा की 'श्वासो श्वासो' इस उक्ति से लेकर 'स्वेदच्छद्मामृतद्रवम्'तक 'वर्णसंहार' है क्योंकि इसी स्थल पर राजा, सागरिका एवं विदूषक आदि पात्र एकत्र होते हैं दशरूपककार के अनुसार जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मण आदि) एकत्र हों वहाँ 'वर्णसंहार' होता है।[3] भरतमुनि का भी यही मत है।[4] इसका उदाहरण दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'वीरचरित' के तृतीय अङ्क से दिया है जहाँ ऋषि, क्षत्रिय एवं अमात्य आदि चारों वर्ण एकत्र होकर रामविजय की आशंसा वाले परशुराम के क्रोध को शान्त करने की प्रार्थना करते हैं। 'यह ऋषियों की परिषद्, यह वृद्ध युधाजित, अमात्यगण के साथ नृप, वृद्ध लोमपाद और यह अविरत यज्ञ करने वाले एवं पुराने ब्रह्मवादी जनक के प्रभु भी द्रोहरहित आप से याचना करते हैं'।[5] इस प्रकार हम देखते है कि 'वर्णसंहार' के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भरत एवं धनञ्जय के अनुसार जहाँ चारों वर्ण एकत्र हों, वहाँ 'वर्णसहार' है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'वर्ण-संहार' के 'वर्ण' शब्द से नाटक के पात्र परिलक्षित होते हैं। अतः पात्रों के सम्मिलन को 'वर्णसहार कहना चाहिए, न कि विभिन्न जाति के लोगों का समागम। नाट्यदर्पणकार इसी मत के अनुयायी हैं।

वास्तव में यदि विचार किया जाय तो अभिनवगुप्त एवं नाट्यदर्पणकार का मत अधिक समीचीन है। जहाँ पर पात्रों का सम्मिलन होगा, वहाँ यह अधिक सम्भव है कि समस्त वर्गों के पात्रों का मिलन हो जाय। मान लीजिए किसी नाटक में चार-छः पात्रों का सम्मिलन होता है तो यह बहुत कम सम्भव है कि समस्त पात्र एक ही वर्ग के वर्ग के हों। उन पात्रों में हो सकता है राजा (क्षत्रिय) हो, विदूषक (ब्राह्मण) हो, ऋषिगण हो, दास (शूद्र) हो। इस प्रकार चारों वर्णों का समागम तो पात्रों के सम्मिलन से स्वयं ही हो जायगा। *अतएव 'वर्णसंहार' का अर्थ लगाना चाहिए—पात्रों का सम्मिलन।*

---

१. रत्नावली, द्वितीय अङ्क, २०

२. नाट्यदर्पण, पृ० ६४

३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ३५

४. नाट्यशास्त्र (Translation by Man Mohan Ghosh, P. 392)

५. वीरचरित, तृतीय अङ्क ५

कुछ विद्वान वर्णित अर्थ के तिरस्कार को 'वर्णसंहृति' मानते हैं। परन्तु इस व्याख्या को मानने वाले विद्वान स्वल्प ही हैं। 'वर्णसहार' का यह अर्थ बाल की खाल निकाल कर किया गया है। यदि वर्णित अर्थों के तिरस्कार का वर्णन कहीं उपलब्ध भी हो तो उसे 'वर्ण्यसहार' कहना अधिक सगत होगा, 'वर्णसहार' नहीं।

नर्म तथा **नर्मद्युति** प्रतिमुखाङ्गों का कामप्रधान रूपको में ही निबन्धन किया जाता है क्योकि कामप्रधान रूपको मे कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से हास्य उचित होता है। क्रीडा के लिए प्रयुक्त हास्ययुक्त वाक्य को 'नर्म' कहते हैं।[1] इसमे परिहासयुक्त वाक्यो का प्रयोग अधिकता से किया जाता है। परिहास से उत्पन्न दोष को छिपाने के लिए फिर हँसना 'नर्मद्युति' है।

जहाँ पर पात्रो को अनिष्ट के दर्शन हो, वहाँ **ताप** प्रतिमुखाङ्ग होता है[2]। कुछ विद्वानो ने इस प्रतिमुखाङ्ग के स्थान पर 'शमन' को माना है। 'शम' मे अनुनय एव अरति का ग्रहण और निग्रहण होता है। रसका उदाहरण 'वेणी-सहार' के उस स्थल से दिया जा सकता है जहाँ पर सखियाँ भानुमती से कहती हैं कि प्रिय सखि ! उस स्वप्न को बताओ जिससे हम लोग भी उसे धार्मिक कथाओ से एव दूर्वा इत्यादि मागलिक वस्तुओ के स्पर्श से शान्त करने का प्रयत्न करें। उपर्युक्त पंक्तियो मे अरति का निग्रह किया गया है।

स्वय कहे गए या दूसरे के द्वारा कह गए वचन की अपेक्षा से विशेषता युक्त वचन कहना पुष्प है[3]। पूर्व वाक्य की अपेक्षा विशेषतायुक्त यह वाक्य पुष्प के समान होता है, अतएव 'पुष्प' कहा जाता है।

जहाँ पात्रो में परस्पर उत्तरोत्तर वचन पाए जायँ, वहाँ **प्रगमन** होता है।[4] यथा 'वेणीसहार' मे राजा व भानुमती की निम्न उक्ति-प्रत्युक्ति 'प्रगमन' का उदाहरण है—

'आर्यपुत्र ! मैं सन्देहयुक्त हो रही हूँ। अत मुझे आज्ञा प्रदान कर ही दें। देवि ! इस प्रकार की शङ्का से यदि आप विचलित हो रही हैं तो हम लोगो की समस्त दिशाओ तक व्याप्त अक्षौहिणी सेना से क्या ? अथवा द्रोणाचार्य से क्या ? मेरे सौ भाइयों की भुजारूपी कानन की छाया मे आनन्द से विश्राम

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ६५

२ नाट्यदर्पण, पृ० ६६

३. नाट्यदर्पण, पृ० ६८; दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ३४

४. नाट्यदर्पण, पृ० ६९

करती हुई आप सिंह दुर्योधन की गृहिणी हैं। तुम्हे क्या शंका ?[१] आर्य्य-पुत्र! तुम्हारे रहते हुए मुझे शङ्का की कोई आवश्यकता नहीं'।

प्रत्यक्ष कर्कश वाक्य को वज्र कहते हैं।[२] निष्ठुर होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से कर्कश वाणी को एवं पूर्व-प्रयुक्त वाक्य अथवा अन्य होने वाले अनुष्ठान के विनाशक वाक्य को 'वज्र' कहते हैं। क्योंकि ऐसा वाक्य वज्र के समान ही होता है। इसमें कोई पात्र किसी पात्र के सम्मुख ही वज्र के समान निष्ठुर वचनों का प्रयोग करता है। 'वेणीसंहार' का निम्न स्थल इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है —

'अश्वत्थामा—रे रे! राधागर्भभारभूत! सूतापसद!! मेरे पिता ने पुत्रशोक अथवा भय के कारण किसी भी प्रकार से धृष्टद्युम्न के हाथ को न रोका, परन्तु भुजाओं के बल से फूले न समाए हुए तुम्हारे सिर पर आज यह मेरा बायाँ पैर रखा जा रहा है।'[३]

किसी भी अर्थ की सिद्धि के लिए की जाने वाली युक्ति को उपन्यास कहते हैं।[४] यथा 'कृत्यारावण' में रावण सीता से पुष्पक पर बैठने के लिए आग्रह करता है परन्तु सीता पुष्पक पर बैठना स्वीकार नहीं करती है। तदनन्तर रावण सीता को डरवाने की युक्ति सोचता है। वह कहता है— 'यदि तुम पुष्पक पर नहीं बैठती तो मैं चन्द्रकिरण के समान द्युतिवाले खड्ग से तुम्हारे सामने बटुओं के शिरःकमलों का उपहार आरम्भ कर दूँगा। यहाँ रावण ने सीता को पुष्पक पर बैठाने की युक्ति सोची है, अतएव यहाँ 'उपन्यास' है।

पूर्व-उपलब्ध और बीच में तिरोहित हो गए किन्तु घटनावश अभिलषित अर्थ के अन्वेषण को अनुसर्पण कहते हैं[५]। इसमे पहले विद्यमान पीछे खोई या दृष्ट नष्ट वस्तु की खोज की जाती है। यथा 'रत्नावली' में सागरिका के वचन को सुनकर बीज नष्ट हो गया था। किन्तु चित्र मिल जाने पर राजा का यह वचन कि मित्र! वह कहाँ है? उसे दिखाओ, दिखाओ—बीज का पुनः आगमन करा देता है।

१. वेणीसंहार, द्वि० अ०, १७
२ नाट्यदर्पण, पृ० ७०
३ वेणीसंहार, तृ० अ०, ४०
४. नाट्यदर्पण, पृ० ७१
५. नाट्यदर्पण, पृ० ७२

गर्भसन्धि

लाभालाभ की गवेषणा द्वारा जिसमे बीज का औन्मुख्य हो, वह 'गर्भ' सन्धि है। इस सन्धि मे तृतीयावस्था प्राप्त्याशा का मिश्रण रहता है। प्रतिमुखसन्धि मे किञ्चित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है किन्तु इस सन्धि मे—प्राप्त्याशा से परिच्छिन्न होने के कारण—फल का ऐकान्तिक निश्चय नही हो पाता है। प्राप्त्याशा अवस्था मे सफलता की सम्भावना के साथ ही साथ विफलता की भी आशङ्का बनी रहती है। इसीलिए 'गर्भ' सन्धि मे फल-प्राप्ति की सम्भावना ही पायी जाती है। यही इस सन्धि की विशेषता है।

इस सन्धि में मुख्यरूप से प्राप्ति की आशा से निबद्ध बीज के उपाय का प्रकाशन एव छल की अधिकता का वर्णन होता है। साथ ही साथ इसमे क्रोध एव हर्ष आदि से होने वाले आवेग से भरे वचनो का भी प्रयोग अधिकता से किया जाता है। इसमे साम, दान, भेद, दण्ड, माया और इन्द्रजाल आदि भी प्रयुक्त होते हैं।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भरत का ही अनुसरण करते हुए इस सन्धि के तेरह अङ्गो का उल्लेख किया है। ये अङ्ग निम्न हैं—'संग्रह, रूप, अनुमान, प्रार्थना, उदाहरण, क्रम, उद्वेग, विद्रव, आक्षेप, अधिबल, मार्ग, असत्याहरण और तोटक।'[1]

साम, दान, भेद एव दण्ड, इन्द्रजाल और माया आदि का वर्णन संग्रह कहलाता है।[2] यथा 'रघुविलास' के चतुर्थ अङ्क म 'संग्रह' का प्रयोग किया गया है। सीता के यह कहने पर कि लक्ष्मण के बाण ही यह प्रकट करेंगे कि कौन मायावर है और कौन स्थावर, रावण की सीता के प्रति निम्न उक्ति—

'हे सुदति! प्रेमावनद्धहृदय लङ्केश्वर सब सहन कर सकता है किन्तु यह चन्द्रहास व्यग्य वचन बोलने वालो को क्षमा नही कर सकता है।' उपर्युक्त पंक्ति मे रावण सीता के प्रति 'दण्ड' का प्रयोग करता है, सीता को धमकाता है। अतएव यहाँ 'संग्रह' नामक गर्भाङ्ग है।

रूप के स्वरूप के विषय मे विद्वानो मे अत्यन्त मतभेद है। नाट्यदर्पणकार

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ७२
२ नाट्यदर्पण, पृ० ७२

के अनुसार नाना प्रकार के अर्थों का संशयात्मक ज्ञान 'रूप' है।[1] दशरूपककार के अनुसार तर्क-वितर्कमय वाक्यों का प्रयोग 'रूप' है।[2] कुछ विद्वान विचित्र अर्थ युक्त वाणी को 'रूप' मानते हैं। यदि इन तीनो परिभाषाओं का सूक्ष्मरूप से विवेचन किया जाय, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि समस्त परिभाषाएँ यथास्थान तो उचित हो सकती हैं किन्तु नाट्यदर्पणकार की ही परिभाषा सबसे अधिक उचित प्रतीत होती है। जैसा कि गर्भसन्धि के इस अङ्ग का नाम 'रूप' है, इससे स्पष्टतया यही अर्थ ध्वनित होता है कि नाना प्रकार के अर्थों का संशयात्मक ज्ञान ही 'रूप' है। जैसे रूप मे हमे नाना प्रकार के अर्थों का ज्ञान तो होता है परन्तु वह स्पष्ट नही रहता है, संशययुक्त ही रहता है। उसी प्रकार इस 'रूप' नामक संध्यङ्ग मे भी विभिन्न अर्थों का संशयात्मक ज्ञान रहता है, यह स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँ किन्ही हेतुओ के द्वारा निश्चय किया जाता है—किसी चिह्नविशेष से किसी बात का अनुमान किया जाता है—वहाँ **अनुमान** होता है। यथा "स्वप्नवासवदत्तम्' के निम्न स्थल मे—

'पुष्प पैरों से कुचल दिए गए हैं, शिलातल भी गर्म है। यहाँ कोई अवश्य थी जो हम लोगों को देखकर चली गई'। यहाँ पुष्पों के कुचले हुए होने से एव शिलातल के गर्म रहने से किसी के अवस्थित रहने का निश्चय किया गया है, अतएव यहाँ 'अनुमान' अङ्ग है।

साध्यफलोचित रति, हर्ष, उत्सव आदि से सम्बन्धित याचना को प्रार्थना कहते हैं।[3] इसका उदाहरण 'रत्नावली' के उस स्थल से दिया जा सकता है जहाँ राजा कहता है कि प्रियासमागम के उत्सव के निकट आ जाने पर भी मेरा चित्त इतना अधिक विह्वल क्यों हो रहा है।[4]

लोकप्रसिद्ध सामान्य वस्तुओ की अपेक्षा किसी वस्तु का जो समुत्कर्ष है, वह उत्कर्ष का आहरण (करने वाला) होने से उदाहृति कहलाता है।[5] नाट्यदर्पणकार ने इसके उदाहरण के लिए 'रत्नावली' के उस स्थल को प्रस्तुत किया है, जहाँ राजा कहता है कि यह बहुत आश्चर्य की बात है कि मन स्वभावत.

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ७३

२ दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ३९

३. नाट्यदर्पण, पृ० ७४

४. उपनतप्रियसमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेत.।

५. नाट्यदर्पण, पृ० ७५

चञ्चल तथा अणु होने के कारण अभेद्य होता है, तब हमारे मन को कामदेव ने एक साथ अपने सभी बाणो से कैसे भेद दिया[1] ? नैयायिकों ने मन को अणु-परिमाण वाला बताया है। अणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उसका हम दर्शन नही कर सकते, ऐसा लोकप्रसिद्ध है। जिसका प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता है, उसका भेदन भी नही किया जा सकता है। यद्यपि मन अणुपरिमाण वाला है, अप्रत्यक्ष है; फिर भी कामदेव ने अपने समस्त बाणो से उसको विद्ध कर ही दिया। अन्य धनुर्धारियो की अपेक्षा कामदेव का उत्कर्ष वर्णित होने से यहाँ 'उदाहृति' नामक अङ्ग है।

पराभिप्राय अथवा अभिप्रेत अर्थ का प्रतिभा आदि के कारण निर्णय करना *क्रम* है[2]। इसमें एक पात्र-प्रतिभा से युक्त होने के कारण—किसी दूसरे पात्र के अभिप्राय को अथवा अभिप्रेत को जान लेता है। साराश यह है कि किसी के भाव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना 'क्रम' है। यथा 'रत्नावली' मे राजा की निम्नोक्ति—

'मेरी गुप्त प्रीति के लोनो ने जान लिया है, इसी से वह लज्जा के साथ अपना मुख सबसे छिपाती रहती है। दो आदमियो को बातचीत करते हुए देखकर वह यही समझती है कि उसी के विषय मे ही बातें हो रही हैं। सखियो को अपनी ओर हँसती हुई देखकर वह अधिक लज्जित हो जाती है। इस समस्त बातों से ज्ञात होता है कि वह भीतर ही भीतर अत्यधिक शङ्कित रहा करती है[3]।' उपर्युक्त पक्तियो मे बुद्धिमत्ता के कारण राजा ने अपनी प्रेमिका के भावो को यथावस्थित रूप में समझ लिया है। अतएव यहाँ 'क्रम' है।

दशरूपककार आदि कुछ विद्वानो के अनुसार जहाँ इष्ट वस्तु की प्राप्ति का चिन्तन किया जाय तथा वह वस्तु प्राप्त हो जाय, वहाँ 'क्रम' होता है। परन्तु यह परिभाषा तर्कसगत नहीं प्रतीत होती क्योकि गर्भसन्धि मे तो प्राप्त्याशा का निबन्धन रहता है। इसमें अभीष्ट वस्तु के प्राप्ति की सम्भावना ही रहती है, उसका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता—वह वस्तु प्राप्त नही हो जाती। इसलिए इष्ट वस्तु की प्राप्ति 'क्रम' है—यह मत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

---

१. रत्नावली, तृ० अं०, २
२. नाट्यदर्पण, पृ० ७६
३. रत्नावली, तृ० अ०, ४

चोर, राजा एवं शत्रु आदि से होने वाला भय उद्वेग है। यथा वेणीसंहार की निम्न पंक्तियों में—'यथा यह कौरव राजकुमारों के महान वन के लिए भीषण झंझावात के समान भीमसेन समीप आ गया है एवं महाराज अचैतन्यावस्था में हैं। ठीक है रथ को दूर ले जाता हूँ। सम्भवत: यह दुःशासन की तरह इनके साथ भी अनुचित व्यवहार न कर बैठे'[1]—शत्रुजनित उद्वेग का वर्णन है।

भय आदि प्रदान करने वाली वस्तु की शङ्का अर्थात् विघ्नप्रदत्ता की सम्भावना विद्रव है[2]। इसे 'विद्रव' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा हृदय द्रवित हो जाता है। आ जाने वाला भय 'उद्वेग' कहलाता है और भविष्य में आने वाले भय की सम्भावना को 'विद्रव' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यही इन दोनों में भेद है। कुछ विद्वान 'सम्भ्रम' को गर्भसन्धि का चौदहवाँ अङ्ग मानते हैं परन्तु यह संगत नहीं है। 'उद्वेग' एवं 'विद्रव' के अतिरिक्त इसका अलग अस्तित्व ही नहीं है। यदि भय को 'सम्भ्रम' माना जाय तो 'उद्वेगो भीः' इस लक्षण वाले 'उद्वेग' में ही इनका तिरोभाव हो जायगा। पुनश्च आदि शङ्का को 'सम्भ्रम' कहा जाय तो 'विद्रवः शङ्का' इस लक्षण से युक्त 'विद्रव' के अन्तर्गत इसका तिरोभाव हो जायगा। अतएव 'सम्भ्रम' को एक अलग संध्यङ्ग मानना उचित नहीं है।

प्राप्ति की आशा से निबद्ध बीज (मुख्य कार्य) के उपाय का प्रकाशन अर्थात् प्रकट रूप में विभावन आक्षेप है[3]। इस अङ्क में गर्भस्थित बीज स्पष्ट हो जाता है। यथा 'रत्नावली' में राजा की निम्न उक्ति आक्षेप का ही उदाहरण है—'हे आह्लादकराखिलाङ्गि! आओ, निःशङ्क होकर शीघ्रता से आलिङ्गन कर अनङ्गताप से पीड़ित मेरे अङ्गों को शान्त करो'[4]। 'तुम मुझसे लिपट जाओ' इस अभिप्राय को अपनी प्रियतमा के प्रति व्यक्त कर दिया है।

परस्पर वञ्चना में प्रवृत्त दो व्यक्तियों की बुद्धि तथा उनके बलाधिक्य प्रयुक्त सन्धानकारी कार्य ही अधिबल कहे जाते हैं। इस अङ्क में छल का प्रयोग अधिकता से किया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'विनीत व दीनवचन 'अधिबल' है। इसका उदाहरण रत्नावली की निम्न पंक्ति है—

---

१. वेणीसंहार, चतुर्थ अङ्क
२. नाट्यदर्पण, पृ० ७७
३. नाट्यदर्पण, पृ० ७८
४. रत्नावली, तृ० अ०

'देवि ! इस प्रकार मेरे अपराध के प्रत्यक्ष देख लेने पर मैं तुमसे क्या प्रार्थना कर सकता हूँ। मैं लज्जित होकर अपने सिर से दोनों चरणों की अलक्तक ललाई को दूर कर रहा हूँ। लेकिन कोपोपजनित मुखचन्द्र की ललाई को तो अभी हटा सकता हूँ'।[1] इन पंक्तियों मे राजा अत्यन्त विनीत व दीन वचनों से प्रिया को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा है।

कुछ विद्वानों के अनुसार उपालम्भयुक्त वाक्य को 'अधिबल' कहते है। यथा वेणीसंहार के पञ्चम अङ्क में—

'जिन राजाओं के द्वारा आपकी सभा में पाण्डवों की गृहिणी पाञ्चाली केश ग्रहण करके आकृष्ट की गई है, जिस कारण वे सब क्षुद्र टिड्डियों के कुल की तरह अनायास ही क्रोधाग्नि मे भस्म हो गए हैं। इसीलिए मैं आपको सुनाता हूँ, न तो बाहुबल की प्रशंसा से और न गर्व के कारण। पुत्र-पौत्रों के द्वारा किए गए भीषण तथा दुष्कर कार्य के साक्षी पिताजी ! आप ही तो हैं।' इन पंक्तियों में भीमसेन धृतराष्ट्र को उलाहना दे रहा है कि यह सब दुष्कर्म आप ही के कारण हुआ है, अतएव यहाँ 'अधिबल' है।

यदि पारमार्थिक तत्त्व को सामान्यतः कहा जाय और उसे प्रकृत अर्थ के साथ सम्बद्ध कर दिया जाय तो उसे **मार्ग** की संज्ञा प्रदान करते हैं।[2] यथा 'रघुविलास' के चतुर्थ अङ्क मे रावण की निम्न उक्ति—

'देवों के गर्व को नष्ट करने वाले रावण के प्रति सीता का विराग है और वनधारी राम के प्रति उसका राग है। प्रेम का मार्ग अत्यन्त विचित्र है। यह विचार-विमुख होता है और इसे सौन्दर्य, विक्रम, कला एवं विभव आदि की तनिक भी अपेक्षा नही रहती'।

रावण का उपर्युक्त कथन कि प्रेम का मार्ग अत्यन्त विचित्र है, सामान्य होने पर भी प्रकृत से सम्बद्ध है।

छल को **असत्याहरण** कहते हैं। यथा 'मालविकाग्निमित्र' में राजा के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए विदूषक ने केतकी के काँटों के चिह्नों को झूठमूठ सर्पदंश के रूप में प्रकाशित किया है।

क्रोध एवं हर्ष आदि से होने वाले आवेग से भरे वचन **तोटक** कहलाते है।[3] यह आवेग युक्त वचन हृदय का तोटन अर्थात् भेदन करता है। यथा 'वेणीसंहार' में क्रोध के आवेग से अश्वत्थामा की निम्न उक्ति—

---

१. रत्नावली, तृ० अ०, १४

२. नाट्यदर्पण, पृ० ७९

३. नाट्यदर्पण, पृ० ८१

'वन्दिचारणों के मङ्गलपाठ द्वारा बहुत परिश्रम से निद्राभङ्ग किए जाने पर भी आप आज निशाकाल में शयन करेंगे। आज मैं संसार को कृष्ण और पाण्डवों से रहित कर दूँगा। पराक्रमी राजाओं के संग्राम की वार्ता भी आज समाप्त हो जायगी। नृपरूपी वन के बोझ से दबी हुई पृथ्वी का भार आज समाप्त हो जायगा।'[1] अश्वत्थामा ने क्रोध के आवेग के कारण उपर्युक्त वचन कहा है, अतएव यहाँ 'तोटक' है।

अवमर्श सन्धि

जहाँ व्यसन, शाप, दैवी आपत्ति या क्रोध आदि से फल प्राप्ति में विघ्न उपस्थित हो जाता है, वहाँ अवमर्श सन्धि पायी जाती है। शाप के कारण विघ्न की प्राप्ति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में है जहाँ दुर्वासा शकुन्तला को शाप देते हैं कि जिसके प्रेम में तुम डूबी हुई हो, वह तुम्हें उसी प्रकार भूल जायेगा जिस प्रकार पागल व्यक्ति अपने पहले किए हुए कामों को भूल जाता है।

क्रोध से विघ्न की प्राप्ति 'वेणीसंहार' में उस स्थल पर हुई है जहाँ भीम ने क्रोध के कारण प्रतिज्ञा कर ली है कि वे दुःशासन को अवश्य मार डालेंगे। इस विघ्न की व्यञ्जना युधिष्ठिर की निम्न उक्ति में है—

'किसी तरह भीष्म रूपी समुद्र पार कर लिया गया। द्रोणाचार्य रूपी अग्नि भी बुझ गई है। कर्ण रूपी विषयुक्त साँप भी मर चुका है। शल्य भी स्वर्ग सिधार गया। विजयलाभ अत्यन्त सन्निकट है तो भी साहसप्रेमी भीम ने प्रतिज्ञा करके हम लोगों को संशयापन्न कर दिया है।'[2] इसी प्रकार दैवी आपत्ति आदि से भी विघ्न की उपस्थिति हो जाती है जिससे बीज फलोन्मुख नहीं हो पाता।

विघ्न आ जाने पर भी प्रयत्न से विमुख नहीं होना चाहिए—सामाजिकों को इस बात की शिक्षा देने के लिए इस सन्धि में विघ्नों के कारणों का प्रदर्शन अवश्य करना चाहिए। पुनश्च इस सन्धि में नियताप्ति अवस्था का सन्निवेश होने से अभीष्ट फल के प्रति नायक भी सन्देह में पड जाता है, परन्तु फल प्राप्ति की ही सम्भावना अधिक रहती है।

इस सन्धि के निम्नलिखित तेरह अङ्ग हैं—

द्रव, प्रसङ्ग, सम्फेट, अपवाद, छादन द्युति, खेद, विरोध, संरम्भ, शक्ति, प्ररोचना, आदान और व्यवसाय।[3]

---

१ वेणीसंहार, तृ० अ०, ३४
२ वेणीसंहार, षष्ठ अङ्क, १
३ नाट्यदर्पण, पृ० ८१–८२

जहाँ पूज्य व्यक्तियो का तिरस्कार हो, वहाँ द्रव होता है[1]। 'रत्नावली' मे पति के समीप रहते वासवदत्ता का विदूषक और सागरिका को बाँध लेना 'द्रव' का उदाहरण है। अथवा 'वेणीसंहार' मे बलभद्र के प्रति युधिष्ठिर की निम्न उक्ति—

'न तुमने बान्धव प्रीति का विचार किया, न क्षत्रिय धर्म का पालन ही किया, अर्जुन के साथ तुम्हारे छोटे भाई की जो मित्रता थी, उसका भी विचार न किया। दोनो शिष्यों में आपका समान स्नेह होना चाहिए था। यह कौन-सा मार्ग है कि आप मुझ मन्दभाग्य के साथ अप्रसन्न हैं।[2] यहां बलभद्र को भला बुरा कहा गया है, अतएव द्रव है।

अथवा 'उत्तररामचरित' में लव की निम्न उक्ति भी द्रव का ही उदाहरण है क्योंकि पूज्य रामचन्द्रजी पर छींटें उछाली गई हैं। 'सुन्द की स्त्री को जीत लेने पर भी जिनका यश क्षीण नही हुआ है खर से युद्ध करते समय भी जो तीन पग पीछे न हटे, इन्द्र पुत्र बालि का वध करते समय उन्होंने जो कौशल दिखलाया है उसको सारा जगत जानता है। वे बडे हैं, वृद्ध हैं, उनके विषय मे कुछ न कहना ही ठीक है।'

गुरुजनो का सकीर्तन करना प्रसङ्ग है[3]। यथा 'वेणीसंहार' के छठे अङ्क मे युधिष्ठिर की निम्न उक्ति—

'सबसे पहले यह जलाञ्जलि गंगा के पुत्र पूज्य प्रपितामह शान्तनु के आत्मज भीष्म के लिए है। यह जलाञ्जलि पितामह विचित्रवीर्य के लिए है। अब पिताजी की बारी है। यह जलाञ्जलि स्वर्गस्थित आदरणीय पिता पाण्डु के लिए है।' उपर्युक्त पंक्तियो मे भीष्मपितामह, विचित्रवीर्य और पाण्डु आदि गुरुजनो का सकीर्तन हुआ है, अतएव यहाँ 'प्रसङ्ग' है।

'द्रव' और 'प्रसङ्ग' पर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'द्रव' के ठीक विपरीत 'प्रसङ्ग' है। कुछ विद्वान अप्रस्तुतार्थ वचन को 'प्रसङ्ग' मानने के पक्ष मे हैं। किन्तु यह परिभाषा अधिकतर विद्वानो को मान्य नहीं है। भरत एव विश्वनाथ आदि भी इस परिभाषा को नहीं मानते।

क्रोध से उत्पन्न होने वाला पारस्परिक उत्तर-प्रत्युत्तर रूप संलाप सम्फेट कहलाता है।[4] यथा 'वेणीसंहार' मे दुर्योधन और पाण्डवो की निम्न उक्ति-प्रत्युक्ति—

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० ८२

२. वेणीसहार, षष्ठ अङ्क

३. नाट्यदर्पण, पृ० ८२

४ नाट्यदर्पण पृ० ८२

'अये कौरवराज ! परिवार का विनाश देखकर क्रोधित होने से क्या ? हम लोग युद्ध के लिए पर्याप्त हैं और तुम अकेले हो, इस प्रकार का खेद न करो। हे सुयोधन ! हम पाँचो व्यक्तियो मे से जिससे युद्ध करना उचित समझते हो, कवच पहन लो और शस्त्र लेकर युद्ध कर लो।' इस बात को सुनकर दुर्योधन की निम्न उक्ति—

'कर्ण और दु शासन के वध से यद्यपि तुम दोनो मेरे लिये समान ही हो तथापि तुम्हीं साहसी हो अत तुम्ही से युद्ध करना चाहता हू।'[1] उपर्युक्त पक्तियो मे सुयोधन और भीम मे क्रोध से उत्तर-प्रत्युत्तर रूप सलाप हुआ है अतएव यहाँ 'सम्फेट' है।

अपने या दूसरो के दोषो का उद्घाटन अपवाद है।[2] इसका उदाहरण 'वेणीसहार' मे उस स्थान पर प्राप्य है जहाँ पाञ्चालक युधिष्ठिर से कहता है कि उसका मार्ग ही नही अपितु देवी द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श रूपी पाप का प्रधान कारण वह दुष्ट स्वय भी पा लिया गया है।[3] इन पक्तियो मे पाञ्चालक ने 'द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श रूपी पाप का प्रधान कारण' कहकर, दुर्योधन के दोष का उद्घाटन किया है। अतएव यहाँ 'अपवाद' अव-मर्शाङ्ग की प्राप्ति है।

अपमान का मार्जन करना छादन है।[4] भरत एव विश्वनाथ के अनुसार किसी कार्य की सिद्धि के लिये असह्य को भी सहन करना 'छादन' है।[5] दशरूपककार धनञ्जय ने 'छादन' के स्थान पर 'छलन' मान लिया है। यह इनकी अपनी सूझ है। किसी भी अन्य विद्वान ने इसको मान्यता नहीं प्रदान की है। दशरूपककार के 'छलन' का अन्तर्भाव 'द्युति' अङ्ग में किया जा सकता है। 'द्युति' मे भी एक पात्र अन्य पात्र को तिरस्कृत करता है और छलन' मे भी धनञ्जय के अनुसार एक पात्र दूसरे पात्र की अवज्ञा करता है। अत 'द्युति' और 'छलन' मे अन्तर न होने से 'छलन' का अन्तर्भाव 'द्युति' मे ही किया जा सकता है।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार जहाँ एक पात्र किसी दूसरे पात्र का तिरस्कार करता है वहाँ 'द्युति' अङ्ग की प्राप्ति होती है।[6] कुछ विद्वान

---

१ वेणीसहार, षष्ठ अङ्क, १०-११
२ नाट्यदर्पण पृ० ८३
३. वेणीसहार, षष्ठ अक
४ नाट्यदर्पण, पृ० ८४
५ साहित्यदर्पण, पृ० ३४६
६. नाट्यदर्पण, पृ० ८५

डाँटने और घसीटने को 'द्युति' मानते हैं। विश्वनाथ[1] एव धनञ्जय[2] किसी पात्र के तर्जन और उद्वेजन को 'द्युति' कहते हैं। यथा 'वेणीसहार' के निम्न स्थल मे—

'अपना जन्म चन्द्रमा के विमल कुल मे कहते हो, अब भी हाथ मे गदा लिए हो, दु शासन के उष्ण रक्त की मदिरा से मस्त मुझे वैरी कह रहे हो, अहकार से अन्धे होकर मधु और कैटभ के वैरी श्रीकृष्ण के प्रति अनुचित व्यवहार करते हो। ऐ नीच! हमारे भय के कारण युद्ध से विरत होकर कीचड मे छिपने का प्रयत्न करते हो।'[3] परन्तु धनञ्जय व विश्वनाथ की परिभाषा उचित नही है। क्योकि द्युति की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर 'सम्फेट' एव 'द्युति' मे अन्तर ही क्या रह जायगा ?

कुछ विद्वानो ने तर्जन को 'द्युति' माना है, किन्तु इस व्याख्या का भी अन्तर्भाव 'सम्फेट' मे किया जा सकता है।

कायिक अथवा मानसिक श्रम **खेद** कहलाता है। यथा विक्रमोर्वशीय' की निम्न पंक्ति मे—

'अहो! थक गया हूँ। इस नदी के किनारे स्थित होकर शीतल वायु का सेवन करूँ।' उपर्युक्त पंक्ति मे कायिक खेद का वर्णन है।

प्रस्तुत कार्य के प्रति निरन्तर किया जाने वाला विरोध **विरोध** है।[4] दशरूपककार ने 'खेद' व 'विरोध' को अवमर्शाङ्ग नही माना है, अपितु इन्हीं के स्थान पर 'विद्रव' व 'विचलन' माना है। 'विद्रव' को अन्य विद्वानो ने गर्भसन्धि के अन्तर्गत रखा है परन्तु इन्होने इसे अवमर्श सन्धि के अन्तर्गतर खा है।

आवेग मे आये हुए व्यक्तियो का उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा स्वबल का कीर्तन ही **संरम्भ** है[5]। धनञ्जय ने सम्भवत इसी के स्थान पर 'विचलन' मान रखा है। किन्तु इन दोनो की परिभाषाओ मे अत्यन्त साम्य है। धनञ्जय के अनुसार अपने शौर्य, कुल एवं विद्या आदि की प्रशसा 'विचलन' है एव नाट्यदर्पणकार के अनुसार भी स्वबल की प्रशसा 'सरम्भ' है। यहाँ पर 'बल' शब्द से शौर्य, कुल, विद्या आदि का ग्रहण किया जा सकता है। इस

१ साहित्यदर्पण, पृ० ३४१
२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ४६
३ वेणीसहार, षष्ठ अक, ७
४. नाट्यदर्पण, पृ० ८६
५. नाट्यदर्पण, पृ० ८७

प्रकार धनञ्जय के 'विचलन' और नाट्यदर्पणकार के 'संरम्भ' अङ्ग मे तत्वत: कोई भेद नही है।

भरतनाट्यशास्त्र मे 'संरम्भ' का उल्लेख नही है। भरत ने इसके स्थान पर 'निषेधन' माना है। विश्वनाथ ने भी 'संरम्भ' को न मानकर 'प्रतिषेध' माना है। 'निषेध' एवं 'प्रतिषेध' में कोई भेद नहीं है। प्रतिषेध का अर्थ है—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में प्रतिबन्ध[1]। किन्तु इस 'निषेध' अथवा 'प्रतिषेध' को अलग से संध्यङ्ग मानने की आवश्यकता नही है क्योंकि इनका अन्तर्भाव 'विरोध' में ही किया जा सकता है। साहित्यदर्पणकार ने विरोध की निम्न व्याख्या की है—

'कार्यों में विघ्न की प्राप्ति 'विरोध' है[2]। इस प्रकार यदि हम विचार करें तो 'निषेध' अथवा 'प्रतिषेध' का 'विरोध' मे ही अन्तर्भाव कर सकते हैं।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार क्रुद्ध व्यक्ति को प्रसन्न करने की चेष्टा शक्ति कही जाती है।[3] दशरूपककार के अनुसार 'विरोध' का शान्त हो जाना 'शक्ति' है। इन दोनो विद्वानों की परिभाषाओ मे कोई भेद नही है। भेद केवल इतना ही है कि प्रथम के अनुसार विरोध को शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है, जब कि द्वितीय विद्वान के अनुसार विरोध बिल्कुल शान्त हो जाता है। कुछ विद्वान शक्ति के स्थान पर 'आज्ञा' नामक अङ्ग का उल्लेख करते हैं। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अङ्गों के विषय में अन्य-अन्य लक्षण प्रस्तुत करने वाले मत विद्वानो द्वारा कथित होने से और वर्णन-शैली के भेद से उत्पन्न वैचित्र्य के मनोरंजक होने के कारण प्रमाणभूत ही हैं। अतएव समस्त सन्धियों में अङ्गों की निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत होने वाले अर्थ की सिद्धि अर्थात् सिद्ध रूप मे उपक्रमण प्ररोचना है क्योंकि इसके द्वारा रूपक का अर्थ दीप्त किया जाता हैं। इस अंग मे भावी अर्थ-सिद्धि की सूचना दी जाती है। यथा 'वेणीसंहार' में पाञ्चालक की निम्न उक्ति—

'आपके राज्याभिषेक के लिये रत्नकलश जल से पूर्ण कर दिये जाँय। द्रौपदी चिरकाल से छूटे हुए केशकलाप को बाँध ले। तीक्ष्ण परशु के कारण तेजस्वी हाथ वाले, क्षत्रिय रूप वृक्ष को नष्ट करने वाले परशुराम एवं क्रोधित भीमसेन के युद्धस्थल में उतरने पर सन्देह कहाँ ?'

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० ३४४
२. साहित्यदर्पण, पृ० ३४४
३. नाट्यदर्पण, पृ० ८८

मुख्य फल का दर्शन आदान नामक अवमर्शाङ्ग है। यथा 'नागानन्द' मे नायक के प्रति गरुड की निम्न उक्ति—

'नागो के रक्षक जीमूतवाहन गुरु के समान प्रतीत होते हैं, अतएव सर्पों को खाने की इच्छा निश्चय ही समाप्त हो जायगी।' यहाँ नागो की रक्षा रूप मुख्य कार्य के सामीप्य का वर्णन किया गया है। अतएव यह 'आदान' का उदाहरण है।

अर्थनीय फल के हेतु के योग को व्यवसाय कहते हैं। यथा रत्नावली मे—ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर 'मेरा एक खेल आपको अवश्य देखना चाहिए' यहाँ तक 'व्यवसाय' अङ्ग है। इस स्थल पर यौगन्धरायण ने उदयन तथा वासवदत्ता के सम्बन्ध कराने का जो निश्चय किया था उसके सम्पादक हेतु का समागम हो रहा है।

कुछ विद्वान 'व्यवसाय' का 'व्यवसाय. स्वशक्त्युक्ति' ऐसा लक्षण करते हैं किन्तु यह सगत नही है क्योंकि यह संरम्भ अङ्ग के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाता है।

निर्वहण सन्धि

रूपक के प्रधान वृत्ताश मे कथावस्तु के बीज का विकार (उत्पत्ति, उद्घाटन एवं फलोन्मुखता आदि), प्रारम्भ आदि अवस्थाएँ, विचित्र भाव (स्थायीभाव आदि), उपाय (बिन्दु, पताका, प्रकरी एव कार्य) और मुख, प्रतिमुख, गर्भ एवं विमर्श आदि सन्धियाँ एक अर्थ के लिये नायक, प्रतिनायक, नायिका एव अमात्य आदि के व्यापारो के साथ सम्यक् औचित्य से जब सम्बद्ध कर दी जाती हैं तब फलागमावस्था मे परिच्छिन्न निर्वहण सन्धि की प्राप्ति होती है।[1] यथा 'रत्नावली' मे ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर समाप्तिपर्यन्त का भाग निर्वहण सन्धि का उदाहरण है। निर्वहण सन्धि का उपयोग समस्त रूपको मे आवश्यक है। इस सन्धि के निम्न चौदह अङ्ग हैं—

सन्धि, निरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, उपास्ति कृति, आनन्द, समय, परिगूहन, भाषण, काव्यसहार, पूर्वभाव और प्रशस्ति[2]। उपर्युक्त समस्त अङ्गों का नाट्य मे सम्यक् प्रकार से निर्वाह करना चाहिए।

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० ७१

२. नाट्यदर्पण पृ० ९१

प्रारम्भावस्था के द्वारा मुखसन्धि मे न्यस्त बीज का फलागम की अवस्था में आ जाना सन्धि है[1]। यथा 'रत्नावली' के चतुर्थ अङ्क में वसुभूति तथा बाभ्रव्य का सागरिका को पहचान लेना 'सन्धि' का ही उदाहरण है। नाटक में इस अङ्ग का निबन्धन अवश्य करना चाहिए।

विनष्ट कार्य को सँभालने के लिए किया गया अन्वेषण—निरुद्ध वस्तु-विषयक होने के कारण—**निरोध** कहा जाता है[2]। धनञ्जय ने 'निरोध' के स्थान पर 'विबोध' अङ्ग माना है। इसके अनुसार जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, वहाँ 'विबोध' होता है। सूक्ष्म निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि दोनों परिभाषाओं मे कोई भेद नही है। जहाँ इस अङ्ग को धनञ्जय 'विबोध' की संज्ञा प्रदान करते हैं, वहाँ नाट्यदर्पणकार इसे 'निरोध' की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

जिस व्यापार के द्वारा कार्य (मुख्यफल) सम्बद्ध होता है, उसे **ग्रथन** कहते हैं।[3] यथा 'वेणीसंहार मे—

'पाञ्चालि ! मेरे जीते हुए दुश्शासन के द्वारा बिगाडी गई वेणी को अपने हाथ से न सँवारो। ठहरो ! मैं स्वयं ही सँवारता हूँ। यहाँ द्रौपदी के केश-संयमन रूप कार्य का ग्रथन हुआ है।

ज्ञातव्य अर्थ के सम्बन्ध मे सन्देह या अज्ञान रखने वाले व्यक्ति के प्रति उसके अनुभवार्थ अनुभूत अर्थ का निर्णायक रूप मे किया जाने वाला कथन **निर्णय** कहलाता है।[4] यथा 'वेणीसंहार मे भीम की निम्न उक्ति—

'शरीर को पृथ्वी पर फेंक दिया है। अपने शरीर पर चन्दन के सदृश उसके रक्त को लगा लिया है। चारो समुद्र तक फैली हुई यह पृथ्वी उसकी राज्य-लक्ष्मी के साथ आपके यहाँ विश्राम कर रही है। सेवक, मित्र और योद्धा, यहाँ तक कि सम्पूर्ण कौरव रण की ज्वाला मे जल चुके हैं। अब तो दुर्योधन का केवल नाम भर बचा है, जिसका आप उच्चारण कर रहे हैं'।[5] उपर्युक्त कथन भीम ने युधिष्ठिर के प्रति कहा है। युधिष्ठिर को ज्ञातव्य अर्थ के विषय मे ज्ञान नही था। उन्हें यह नहीं मालूम था कि पाण्डवगण सम्पूर्ण

१. नाट्यदर्पण, पृ० ९२
२. नाट्यदर्पण, पृ० ९२
३. नाट्यदर्पण, पृ० ९२
४. नाट्यदर्पण, पृ० ९३
५. वेणीसंहार, षष्ठ अङ्क, ३९

रूप से विजयी हो गए हैं एवं दुर्योधन का वध भी हो चुका है। इसी ज्ञातव्य अर्थ को भीम ने युधिष्ठिर को बताया है। अतएव यहाँ 'निर्णय' है।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार अपने अपराध का उद्घाटन **परिभाषण** है[१]। किन्तु परिभाषण की यह व्याख्या तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती है क्योंकि तब अवमर्श सन्धि के अङ्ग 'अपवाद' एवं इसमें भेद ही क्या रह जायगा। 'अपवाद' का लक्षण है–अपने या दूसरे के दोषों का उद्घाटन। परिभाषण का भी यही तात्पर्य है क्योंकि दोष एवं अपराध एक प्रकार से पर्यायवाची ही हैं। अतएव नाट्यदर्पणकार की उपर्युक्त परिभाषा तर्कसंगत नहीं है। धनञ्जय आदि विद्वानों के अनुसार जहाँ पात्रों में परस्पर जल्प पाया जाय, वहाँ 'परिभाषण' होता है[२]। यही परिभाषा अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। नाट्य में रञ्जक होने से इस अङ्ग का निबन्धन अवश्य करना चाहिए।

दूसरे को प्रसन्न करने के लिए किया जाने वाला व्यापार **उपास्थि** है[३]। धनञ्जय ने इस अङ्ग के स्थान पर 'प्रसाद' माना है। प्रसाद का अर्थ है— किसी पात्र के द्वारा नायिकादि का प्रसादन[४], सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो इन दोनों अङ्गों में कोई भी भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है।

लब्ध वस्तु के परिपालन को **कृति** *कहते हैं। यथा 'रत्नावली' में रत्नावली की प्राप्ति हो जाने पर वासवदत्ता रत्नावली को सुख से रखने की चेष्टा करती है।*

वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति को **आनन्द** *कहते हैं। अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति आनन्द का हेतु है, अतएव इसे 'आनन्द' की संज्ञा प्रदान की जाती है। निर्वहण सन्धि के इस अङ्ग में पात्र को अभिलषित अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। दुःख के दिन का निकल जाना* **समय** *कहलाता है*[५]*। यथा मृच्छकटिक में आर्यक के राज्य प्राप्त करने पर वसन्तसेना के साथ चारुदत्त को देखकर शार्वलिक की निम्न उक्ति—*

भाग्यवश गुण से युक्त सुशीला प्रियतमा वसन्तसेना ने विपत्तिरूपी महार्णव से चारुदत्त को पार कर दिया। अतएव राहु के ग्रहण से मुक्त चन्द्र की तरह प्रियायुक्त चारुदत्त को अत्यधिक दिनों के बाद देख रहा

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० ९३
२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश
३ नाट्यदर्पण, पृ० ९४
४ दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ५२
५ नाट्यदर्पण, पृ० ९६

है।'[1] उपर्युक्त पंक्तियों में चारुदत्त के दुःख के समाप्त होने का वर्णन है, अतएव यहाँ समय निर्वहणाङ्ग की प्राप्ति है।

विस्मय स्थायिभावात्मक अद्भुत रस की प्राप्ति **परिगूहन** है। यथा रामाभ्युदय नाटक में अग्निप्रविष्ट सीता को जीवित देखने से अद्भुत रस की प्राप्ति होती है। अतएव यहाँ 'परिगूहन' है।

साम और दान की उक्ति को **भाषण** कहते हैं। यथा मृच्छकटिक में चारुदत्त के प्रति शार्वलिक की निम्न उक्ति—

'आर्यक ने वेला नदी के तट पर स्थित नगरी का राज्य आपको दिया है'। दान की उक्ति होने के कारण यहाँ 'भाषण' है।

कार्य का दर्शन **पूर्वभाव** है। यथा 'रत्नावली' में 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इस कार्य का वासवदत्ता के द्वारा दर्शन होता है। अतएव यहाँ 'पूर्वभाव' है।

नायकादि को ईप्सित अर्थ की प्राप्ति **काव्यसंहार** है[2]। 'और क्या मैं तुम्हारे लिए करूँ ?' इस वाक्य के द्वारा रूपक के काव्यार्थ का उपसंहार 'काव्यसंहार' की संज्ञा प्राप्त करता है। समस्त रूपकों में इस अङ्ग का निबन्धन अवश्य करना चाहिए।

संसार के कल्याण की कामना **प्रशस्ति** कहलाती है[3]। यथा 'वेणीसंहार' में युधिष्ठिर की निम्न उक्ति—

'लोग रोगों से व्यथित न होकर पुरुष की आयु के अनुकूल जीवित रहें। भगवान विष्णु में अद्वैत भक्ति हो। समस्त लोक से प्रेम करने वाला, गुणों की महत्ता पर ध्यान देने वाला, विद्वानों का बान्धव एवं समस्त भुवनों का पालन करने वाला राजा हो।'

निर्वहण सन्धि के इस अङ्ग का निबन्धन अवश्य करना चाहिए। इसका वर्णन कथावस्तु के अन्तर्गत भी किया जाता है, अतएव इसकी गणना न करने पर संध्यङ्गों की संख्या केवल चौसठ ही रह जाती है।

कुछ विद्वान निम्न इक्कीस सन्धियों को और मानते हैं—

---

१. मृच्छकटिक, अङ्क १०
२. नाट्यदर्पण, पृ० १००
३. नाटयदर्पण, पृ० १०१

१—साम, २—भेद, ३—दण्ड, ४—दान, ५—वध, ६—प्रत्युत्पन्नमतित्व, ७—गोत्रस्खलित, ८—साहस, ९—भय, १०—धी, ११—माया, १२—क्रोध, १३—ओज, १४—सवरण, १५—भ्रान्ति, १६—हेत्ववधारण, १७—दूत, १८—लेख, १९—स्वप्न, २०—चित्र, २१—मद।

किन्तु इन अन्य इक्कीस सन्धियो को मानना उचित नही है। इन सन्ध्यन्तरो का पूर्वोक्त सध्यङ्गो में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यथा साम आदि कुछ के अङ्ग रूप हैं मति आदि किन्ही के व्यभिचारिभाव रूप हैं, दूत एव लेख आदि कथावस्तु रूप है और अन्य सन्ध्यन्तर उपक्षेप आदि रूप हैं। 'उदात्तराघ मे उपक्षेप अङ्ग हेत्ववधारणरूप, 'प्रतिमानिरुद्ध' मे स्वप्नरूप, 'रामाभ्युदय" में मायारूप एव 'वेणीसहार' मे क्रोधरूप है। अतएव इन सन्ध्यन्तरो की अलग से गणना नही करनी चाहिए।

तृतीय अध्याय

नाटकीय पात्र

नायक

नाटक मे वर्णित प्रधान फल को प्राप्त करने वाला पात्र नाटक का 'नायक' कहलाता है। वह विषयासक्ति आदि व्यसनों से रहित होता है।[1] संस्कृत नाटककारो ने 'नायक' को सर्वगुणसम्पन्न प्रदर्शित किया है। वे वीरता एव साहस के प्रतीक और जनसाधारण के लिए आदर्शरूप होते है किन्तु यूनानी तथा अंग्रेजी नाटककारो ने इस सिद्धान्त को मान्यता नहीं प्रदान की है। इनके अनुसार सर्वगुणोपेत नायक का मिलना इस मर्त्यलोक मे असम्भव है। पुनश्च वे विश्वास करते हैं कि नायक की महानता के लिए उसमे कुछ त्रुटियो का भी होना आवश्यक है। गुणो के समूह म किसी एक विशेष अवगुण का सम्मिश्रण ही मानव की मानवता का लक्षण है। इसी बात को ध्यान मे रखकर यूनानी तथा अंग्रेजी नाटककारो ने यद्यपि संस्कृत नाटककारो के समान श्रेष्ठ वीर नायको को अपने नाटको मे स्थान दिया है तथापि उनमे कुछ न कुछ त्रुटियो का समावेश कर उन्हें मानव बनाने का प्रयास किया है।

संस्कृत नाटक के नायक मे धैर्य का पाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि नायक के सभी भेदो के साथ 'धीर' विशेषण अवश्य प्रयुक्त किया जाता है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार मध्यम और उत्तम नायक के, स्वभाव के अनुसार, चार भेद हैं—धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और धीर-शान्त।[2] देवताओ को धीरोद्धत के रूप में चित्रित करना चाहिए। किन्तु देवताओ का यह धीरोद्धत स्वभाव का नियम मनुष्यो की दृष्टि से है अपनी दृष्टि से नहीं क्योंकि इनम भी शिव आदि धीरोदात्त एव ब्रह्मा आदि धीर-शान्त नायक हैं। सेनापति और मन्त्रियो को धीरोदात्त के रूप मे चित्रित करना चाहिए। इसके विपरीत राजा का निबन्धन धीरललित की कोटि म करना चाहिए। ब्राह्मण और वैश्य स्वभावत 'धीरशान्त' होते हैं।

---

१ प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्य नायक । (नाट्यदर्पण, पृ० १७५)

२ उद्धतोदात्त ललित शान्ता धीर-विशेषणा ।
वर्ण्या स्वभावाश्चत्वार, नेतृणा मध्यमोत्तमा ॥
(नाट्यदर्पण, पृ० २६१

'धीरोद्धत, नायक अनवस्थित, शौर्यादि के गर्व से युक्त, कूट प्रयोग करने वाला एव स्वप्रशमी होता है।[1] धीरोदात्त' कोटि का नायक अति गम्भीर, न्याय करने वाला, क्षमावान् एवं स्थिरप्रकृति होता है। इसके मन पर क्रोध एवं शोक आदि का कोई प्रभाव नही पडता है। इस कोटि का नायक स्व-प्रशसारहित प्रण को जीवन के अन्त तक निभाने वाला, शरण मे आए हुए की रक्षा करने वाला लोकव्यवहार एव शास्त्र का ज्ञाता होता है। इसकी रुचि विशेषकर धर्म मे ही होती है।[2] स्थिरता एव दृढता आदि गुण तो सामान्यत प्रत्येक नायक में पाए जाते हैं, परन्तु इन गुणो की पराकाष्ठा धीरोदात्त नायक मे ही दीख पडती है। समस्त उच्च वृत्तियो के उत्कर्ष का ही नाम 'औदात्त' है।

'धीरललित' नायक शृगारी होता है। मन्त्रियो के ऊपर राज्य-भार छोड देने के कारण वह राज्य की चिन्ता से मुक्त रहता है। इसका स्वभाव अत्यन्त मृदु होता है। इसमे शृङ्गार रस की प्रधानता पायी जाती है। अतएव इसका समस्त आचरण सुकुमार हुआ करता है।[3] 'धीरशान्त' नायक अहकार से सर्वथा रहित, कृपालु एव गुरुजनों की आज्ञा का उल्लघन न करने वाला होता है।[4] 'मालतीमाधव' मे 'माधव' और 'मृच्छकटिक' मे चारुदत्त धीर-शान्त कोटि के नायक हैं।

नायिका के प्रति व्यवहार आदि की दृष्टि से उपर्युक्त नायको के पुन -पुन चार-चार भेद किए जा सकते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है, उसे 'अनुकूल' नायक कहते हैं। अनुकूल नायक के उदाहरण के रूप मे हम राम को ले सकते हैं जो सदैव एक ही नायिका सीता के प्रति अनुराग रखते हैं। 'दक्षिण' नायक एक साथ ही कई नायिकाओं में अनुराग रखता है परन्तु उसका समस्त नायिकाओ से व्यवहार एक समान होता है। नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी वह पहली नायिका के प्रति अपने व्यवहार मे कोई अन्तर नही आने देता। 'शठ' नायक अपने प्रेम को छिपाया करता है। वह अपने नवीन प्रेम को पहली नायिका से व्यक्त नही करता है। धृष्ट नायक लज्जाहीन हुआ करता है। वह अपनी

१. नाट्यदर्पण, पृ० २७
२. नाट्यदर्पण, पृ० २७
३ नाट्यदर्पण, पृ० २७
४. नाट्यदर्पण, पृ० २७

पूर्वा नायिका से अपने नवीन प्रेम को छिपाता नही है। वह इतना ढीठ रहा करता है कि दन्त एवं नख आदि अङ्ग विकार युक्त होने हुए भी ज्येष्ठा नायिका के समक्ष जाने मे हिचक नही रखा करता है।

यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपर्युक्त चारो भेद एक ही नायक की उत्तरोत्तर अवस्थाओ के भी हो सकते हैं। जब तक नायक एक ही पत्नी मे अनुरक्त रहता है तब तक वह 'अनुकूल' नायक रहता है। परन्तु जब वह अन्य नायिका के प्रेम-पाश मे आवद्ध होकर अपने इस नवीन प्रेम को पूर्वा नायिका से छिपाने का प्रयत्न करता है, तब वही 'दक्षिण' नायक हो जाता है। जब इसी नायक का नवीन प्रेम स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है तब वह शठ नायक हो जाता है। यदि यही नायक कुटिल एव नीचवृत्ति वाला होता है तो उसकी गणना 'धृष्ट' कोटि के नायक मे होने लगती है। इस प्रकार धीरोद्धत आदि चार नायकों के अनुकूल आदि चार-चार भेद होने से नायक के कुल सोलह भेद हुए।

प्रकृति-भेद के अनुसार नायक के तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।[1] उत्तम नायक विनम्र, त्यागी दक्ष, प्रिय बोलने वाला, बातचीत करने मे कुशल एव युवक होता है। वह बुद्धि, उत्साह एव मान से युक्त तथा शरण मे आए हुए की रक्षा करता है। इसी प्रकार इसमे और भी बहुत से उत्तम गुण पाए जाते हैं। मध्यम प्रकृति के नायक मे न तो बहुत उत्कृष्ट और न बहुत अपकृष्ट ही गुण पाए जाते हैं। नीच प्रकृति का नायक पापी, चुगुल-खोर, आलसी, कृतघ्नी, हीन-सत्व, स्त्री-लोलुप, रूक्ष और जड होता है। आख्यान वस्तु के अनुसार कहीं 'अधमप्रकृति' को भी नायक के रूप मे चित्रित किया जा सकता है। इसीलिए 'भाण' और 'प्रहसन' मे तथा किसी 'वीथी' मे नीच भी नायक हो सकता है।[2]

नायक के पुन तीन भेद किए जा सकते हैं—दिव्य, अदिव्य एव दिव्यादिव्य। देवता दिव्य, मनुष्य अदिव्य और मनुष्य का रूप धारण किए देवता दिव्यादिव्य होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नायक के १४४ भेद होते हैं। 'नाटक' का नायक प्रसिद्ध कुल मे उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है, जो उत्कृष्ट गुणो से युक्त होता है। वह धीरोदात्त तथा प्रतापशील होता है। कभी-कभी धीरशान्त आदि को भी नाटक के नायक के रूप मे चित्रित कर सकते हैं। 'प्रकरण' का नायक धीरशान्त कोटि का होता है। 'नाटिका' का नायक धीरललित एव 'प्रकरणी' का नायक 'प्रकरण' के नायक की तरह होता

---

१ नाटयदर्पण, पृ० १७४

२. नीचोऽपीह कथावशात्। (नाट्यदर्पण, पृ० १७५)

है 'डिम' नामक रूपक मे देवता तथा राक्षस आदि नायक होते हैं। 'व्यायोग' का नायक कोई अदिव्य भूपति हुआ करता है। 'समवकार' रूपक के नायक उदात्त देव और उद्धत दैत्य हुआ करते हैं। 'भाण' और 'प्रहसन' मे अधम कोटि के नायक चित्रित किए जाते हैं। 'उत्सृष्टिकाङ्क' का नायक कोई मर्त्यपुरुष ही हुआ करता है। 'ईहामृग' का नायक दिव्य एव 'वीथी' मे सभी प्रकृति के नायक पाए जाते है।

'नञ्जराजयशोभूषण' के रचयिता अभिनव कालिदास ने विभिन्न रसो के लिए विभिन्न नायको की कल्पना की है, जो सगत ही है। भिन्न-भिन्न रसो के लिए अलग-अलग नायको का निर्धारण इन्होने ही किया है। इनके अनुसार जो व्यक्ति स्थिरानुरागी, अच्छी अच्छी कलाओ को जानने वाला, विलासी एव कामकलाओ मे पारगत हो, उसे शृङ्गाररस के नाटक का नायक होना चाहिए। जो वीर, तेजस्वी, गम्भीर, स्वाभिमानी एव सदैव युद्ध के लिए तत्पर हो, उसे वीररस के नाटक मे नायक बनाना चाहिए। जो चञ्चल, हर्ष बढाने वाला, असूया करने वाला, परिहास क्रिया मे दक्ष एव बात करने मे चतुर हो, उसे हास्यरस के नाटक मे निबद्ध करना चाहिए। जो चिन्ता, श्रम एवं दैन्य से युक्त रहता हो, दु खी रहता हो, उसे करुणरस मे नायक के रूप मे निबद्ध करना चाहिए। हर्ष और अमर्ष से युक्त, अत्यन्त अभिमानी, चचलचित्त एव अत्यन्त उत्साही नायक का निबन्धन रौद्ररस मे करना चाहिए। जिसके मुख से भली-भाँति शब्द न निकलें, बहुत ही हीन मुद्रा वाला हो, किंकर्त्तव्यविमूढ, दु खी, पसीने-पसीने होने वाला तथा सदा काँपते रहने वाला नायक भयानकरस से सम्बन्धित होता है। वीभत्सरस के नायक का शरीर मदिरा और माँस से सना रहता है, मुख पर भय और घबराहट के भाव रहते हैं, मुँह से लार टपकती रहती है एवं मद मे चूर्ण रहता है। शान्तरस का नायक जितेन्द्रिय, क्रोधहीन, सात्विकगुणो से युक्त सदा प्रसन्न रहने वाला, परम सत्त्वशील एवं धैर्यवान् होता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी लक्षण-ग्रन्थों मे आचार्यों ने नायक के अनेक भेद गिनाए हैं। उत्तम कोटि के नायक मे आठ सात्विक गुणो का होना परमावश्यक है। ये सात्विक गुण निम्न हैं—तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गम्भीर्य औदार्य एवं ललित[2]। प्राणो के नष्ट हो जाने की अवस्था आ जाने पर भी तिरस्कार, दैन्य, अवज्ञा आदि को न सहन करना 'तेज' है। नायक मे धीर

---

१. नञ्जराजयशोभूषण, षष्ठविलास पृ० ७५-७६

२ तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गम्भीरता।

दृष्टि महोत्सवत् चाल एव सस्मित वचन का पाया जाना 'विलास' है। बहुत बड़े क्षोभ के उत्पन्न होने पर भी किञ्चिद् विकार को माधुर्य कहते हैं। घृणा, स्पर्धा, दाक्ष्य, शौर्य एव उत्साह आदि की सत्ता को ज्ञापित कराने वाला चिह्न शोभा है। अनेक विघ्नो के आने पर भी दृढ रहना 'स्थैर्य' नाम सात्त्विक गुण है। कोप, हर्ष, भय एव शोकादि को प्रच्छादित करने वाली स्वाभाविक देह-स्थिति का नाम 'गम्भीर्य' है। शत्रु, मित्र अथवा मध्यस्थो का प्राणोत्सर्ग के द्वारा उपकार करना अथवा दान एव प्रियभाषण आदि के द्वारा प्रसन्न करना 'औदार्य' है। शृगार रसजनित निर्विकार और स्वभावज चेष्टा 'ललित' है। इन उपर्युक्त गुणो के कारण ही नायक की उत्तमता, मध्यमता अथवा अधमता का निर्धारण किया जाता है[1]।

नायक के सहायक—रूपक मे नायक के कई सहायक उपनिबद्ध किए जाते हैं। इन सहायको मे **पीठमर्द** प्रधान सहायक होता है। 'पीठमर्द' प्रधान नायक से शौर्य, त्याग एव बुद्धि आदि गुणो मे थोडा ही कम होता है।[2] जैसे 'मालतीमाधव' का मकरन्द एव रामायण का सुग्रीव क्रमश 'माधव' व 'राम' के सहायक हैं।

धीरोद्धत आदि नायकों के सहायक युवराज, सेनापति, पुरोहित, सचिव, आटविक सामन्त एव तापस आदि होते हैं। इनमे कुछ अर्थसहायक, कुछ काम सहायक एव अन्य धर्मसहायक होते हैं। मत्री और कोषाध्यक्ष अर्थसहाय होते हैं। ऋत्विग पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्मवादी लोग धर्मसहाय होते है। कामसहाय विदूषक आदि होते हैं।

नायक के कुछ सहायक व्यवसायी होते हैं। विट नायक का सेवक एवं अत्यन्त भक्त होता है। वह नायक को प्रसन्न रखने के लिए नृत्त, गीत एव वाद्य का ज्ञाता होता है। पुनश्च वह धूर्त, वाचाल एव वेशोपचार मे निपुण होता है। जनसाधारण इसे सम्भोग आदि विषयों मे अज्ञानी समझते हैं। नपुसक, किरात, मूक, वौने, म्लेच्छ, आभीर, शकार और कञ्चुकी आदि नायक के *अन्त पुर सहाय होते हैं। शकार मूर्ख, अभिमानी, अकुलीन एव ऐश्वर्य* युक्त होता है। कञ्चुकी अन्त पुर में राजा के साथ रहते हैं। किसी को भेजने बुलाने या भवन के भीतरी कामो मे ये नियुक्त किए जाते हैं। दूत

औदार्यं ललित चाष्टौ गुणा नेतरि सत्वजा ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १७५)

१ ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेन सर्वेषा त्र त्रिरूपता ।
तारतम्याद्यथोक्ताना गुणाना चोत्तमादिकम् ॥ (दशरूपक, द्वितीय प्रकाश)

२. नाट्यदर्पण, पृ० १७७

किसी कार्य की सिद्धि के लिए सन्देश लेकर जाते हैं। साहित्यदर्पणकार ने इनके तीन भेद बताए हैं— निसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक। निसृष्टार्थ दूत भेजने वाले तथा जिसके पास भेजा जाता है, उनके अन्तर्गत भावों को समझ लेता है और स्वयं ही उत्तर दे लेता है। वह सम्यक् प्रकार से कार्य की सिद्धि करता है। मितार्थ अल्पभाषी होने के साथ साथ कार्यों की सिद्धि भी कुशलतापूर्वक करता है। सन्देशहारक उतनी ही बात कहता है जितनी उससे कही जाती है[१]।

विदूषक

हास्य के बिना व्यक्ति का जीवन निरर्थक ही है। हास्य मानव जीवन के विभिन्न कष्टों का विनाशक है। दुखी व्यक्ति के मनोरञ्जन के लिए इससे उत्तम और सरल कोई अन्य साधन नहीं है। सम्पूर्ण दिन के अविश्रान्त तथा अथक परिश्रमजनित क्लेशों को दूर करने के लिए यह अद्वितीय औषधि है। वैद्यक सिद्धान्त के अनुसार भी स्वास्थ्य सुधारने के लिए हास्य नितान्त वाञ्छनीय वस्तु है। नाटक आदि रूपक में तो यह रस बहुत ही उपयोगी माना गया है। यही कारण है कि भास, कालिदास एवं शूद्रक आदि कवियों ने भी अपने ग्रन्थ में इस रस को स्थान दिया है। इसी हास्य रस के पोषण के लिए विदूषक' का प्रयोग श्रेष्ठ कोटि के सुखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयों में हुआ है।

नाट्य में विदूषक का प्रयोग प्रधान रूप से हास्य के निमित्त ही किया जाता है[२]। इसका मुख्य कार्य हास्य उत्पन्न कराना ही बताया गया है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार विदूषक खल्वाट होने के कारण, कुबडेपन और विकृताननत्वादि आङ्गिक विकारों के द्वारा, आकाश विलोकन एवं गमन आदि नेपथ्य विकारों द्वारा एवं असंबद्ध, निरर्थक और अश्लील भाषण आदि

१ निःसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः।
कार्यप्रेष्यस्त्रिधादूतो दूत्यश्चापितथाविधः॥
उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निःसृष्टार्थस्तुसस्मृतः॥
मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धिकारी मितार्थकः।
यावद्भाषित सन्देशहार सन्देशहारकः॥
(साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० ११०, ११२)

२ हास्य कृच्चविदूषकः (दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, ९)
विदूषको हास्यनिमित्त भवति (नाट्यदर्पण, पृ० १७७)

वाचिक विकारो के द्वारा हास्योत्पत्ति करता है[1]। अंग्रेजी नाटको का विदूषक भी अपनी वेश-भूषा, चाल-ढाल, व्यग्य एव उपहासात्मक अनुकरण से हास्य प्रस्तुत करता रहता है। वह मदिरा-प्रेमी, सफल गायक एव दुखपूर्ण क्षणो को आनन्द मे परिवर्तित करने वाला होता है।

नाटयदर्पणकार के अनुसार भी विदूषक शान्ति को कलह द्वारा एव कलह को शान्ति द्वारा नष्ट करता है। राजा की वियोगावस्था म यह विनोददान से उसको प्रसन्न रखता है[2]। विश्वनाथ ने भी आगे चलकर यह बताया है कि विदूषक प्रेम व्यापार मे नृप का अनन्य मित्र हुआ करता है। यह अपने कर्म, रूप, वेष एव भाषण के द्वारा हास्य की अभिव्यक्ति करता है। पुनश्च यह ईर्ष्यालु कलहप्रिय एव अपने कर्तव्य का ज्ञाता भी होता है[3]। इसके अतिरिक्त विदूषक नायक का अन्तरङ्ग मित्र भी हुआ करता है। वह प्रेम विषयक व्यापार मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नायक के साथ परिहास भी किया करता है। यथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' म विदूषक माढव्य की दुष्यन्त के प्रति निम्न उक्ति—अवेहि रे उच्छाह हेतुअ तुम दाव अडवीदो अडवी। आहिडतो णरणासिमालोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स विमुहेपडिस्ससि।' घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण विदूषक राजा और रानी सभी के साथ परिहासपूर्ण वार्तालाप किया करता है।

इसके अतिरिक्त यह पूर्वरङ्ग मे भी उपस्थित होकर कथावस्तु का सकेत करता है। यह पूर्वरङ्ग मे त्रिगत के अवसर पर सूत्रधार और उसके सहायक के साथ प्रवेश करता है। विदूषक सहसा मञ्च पर आकर पहेली युक्त बात करता है। तदनन्तर यह कुछ प्रश्न करता है। यथा—यहाँ कौन है? किसने विजय प्राप्त की? आदि आदि। इसी के साथ वार्तालाप करते हुए सूत्रधार कथावस्तु की सूचना देता है[4]। अभिनवगुप्त का भी यही मत है कि

---

१ हास्य चास्याङ्ग-नेपथ्यवचोविकारात् त्रिधा। तत्राङ्गहास्य खञ्जति खञ्ज-दन्तुर विकृताननत्वादिना। नेपथ्यहास्यमत्यायताम्बरत्वोल्लोकित-विलोकित-गमनादिना। वचोहास्यमसम्बद्धानर्थकाश्लीलभाषणादिना भवति। (नाट्यदर्पण, पृ० १७७,)

२ नाट्यदर्पण, पृ० १७८

३ "कर्मवपुर्वेष भाषाद्यै। हास्यकर कलहरतिर्विदूषक स्यात्स्व कर्मज्ञ॥
(साहित्यदर्पण, तृतीयपरिच्छेद, पृ० १०६)

४ तथा च भारती भेदे त्रिगत सम्प्रयोजयेत्।
विदूषकस्त्वेकपदां सूत्रधारस्मितावहाम्।

विदूषक सूत्रधार के सहायकों में से एक सहायक हुआ करता है। नाट्यदर्पणकार ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि पारिपार्श्विक ही—जब विदूषक का वेष धारण करता है—विदूषक कहा जाता है[१]। पारिपार्श्विक ही सूत्रधार का सहायक हुआ करता है। अतएव नाट्यदर्पणकार के अनुसार भी विदूषक सूत्रधार का सहायक हुआ करता है।

भरत के अनुसार विदूषक द्विज होता है। इसके द्विज होने का यह अभिप्राय है कि विदूषक शूद्र जाति का नही हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मे से किसी भी जाति का हो सकता है। परन्तु एक स्थान पर इन्होने[२] ही इसे 'विप्र' कहा है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह जाति का ब्राह्मण ही हुआ करता है। इसके दाँत बडे एव आँखें रक्तवर्ण की होती है। यह कुबडा और विकृतरूप होता है। सक्षेप म इसके स्वरूप के विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी आकृति ऐसी होनी चाहिए जो हास्य रस की सृष्टि कर सके। भरतमुनि के उत्तरवर्ती विद्वानो ने विदूषक के रूप (appearance) पर कुछ भी प्रकाश नही डाला है। केवल शारदातनय[३] ने ही भरत के शब्दो को यत्किञ्चित् परिवर्तनो के साथ दुहराया है। द्विज होने के कारण विदूषक यज्ञोपवीत धारण किए रहता है। वह अपने हाथ मे छडी भी लिए रहता है जिसे दण्डकाष्ठ अथवा कुटिलक कहते हैं। ब्राह्मण जाति का होने से स्वभाव से ही वह पेटू[४] मधुरप्रिय एव भीरु होता है।

असम्बद्ध कथाप्राया कुर्यात् कथानिका तत ॥
वितण्डा गण्डसयुक्ता नालीक च प्रयोजयेत् ।
कस्तिष्ठति जित केनेत्यादिकाव्य • ••• ॥
पारिपार्श्विक सञ्जल्पो विदूषक विदूषित ।
स्थापित सूत्रधारेण त्रिगत सम्प्रयुज्यते ॥
(नाट्यशास्त्र, पञ्चम अध्याय, पृ० २४२ ४३, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज)

१ पारिपार्श्विकएव विदूषक वेषधारी विदूषक । (नाट्यदर्पण, पृ० १३६)

२ वामनो दन्तुरो कुब्जो द्विजन्मा विकृतानन ।
खलति पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषक ॥
(नाट्यशास्त्र, ३५ अध्याय, ७७)

३ खलति पिङ्गलाक्षश्च हास्यानूक विभूषित ।
(भावप्रकाश, दशम अधिकार, पृ० २८९)

४ वञ्जन्ति मोदका पच्चन्ति अपूवका (मृच्छकटिकम्)

भरत ने नाट्यशास्त्र मे नायक के चार भेदो का उल्लेख किया है—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त एवं धीरशान्त। इन्ही भेदो के आधार पर इन्होने विदूषक को भी चार वर्गों मे विभाजित किया है—लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य जो क्रमश दिव्य, नृप, अमात्य और ब्राह्मण नायक के विदूषक होते हैं।[1]

नाट्यदर्पणकार का मत भरत के मत से अत्यन्त साम्य रखता है। इनके भी मतानुसार विदूषक को चार वर्गों मे विभाजित किया जाता है—लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य। देवता का विदूषक लिङ्गी, ब्राह्मण का विदूषक शिष्य एवं राजा का विदूषक लिङ्गी या द्विज या राजजीवी होना है। इसी प्रकार वणिक् आदि का भी विदूषक होता है।[2] उपर्युक्त पंक्तियो मे यद्यपि यह कहा गया है कि ब्राह्मण नायक का विदूषक शिष्य होता है परन्तु आज तक किसी ऐसे विदूषक की प्राप्ति नही हुई है जो शिष्य रहा हो। 'मृच्छकटिक' प्रकरण का नायक ब्राह्मण है किन्तु विदूषक 'मैत्रेय' उसका शिष्य नही है।

शारदातनय ने चारो प्रकार के नायको के विदूषको के गुणो का भी उल्लेख किया है। देवताओ का विदूषक सत्यवादी, भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता, कृत्याकृत्य का विशेषज्ञ, तर्क-वितर्क करने वाला और यथार्थ दृष्टिवादी हुआ करता है। राजा का विदूषक शिष्ट परिहास करने वाला, अर्थ और स्त्रियो मे शुद्ध चित्त और देवी की परिचारिकाओ का प्रियतम होता है। यह अन्त पुर मे भी भ्रमण किया करता है। पुनश्च यह ईर्ष्यालु, कलहयुक्त और प्रणय-क्रोध मे देवी को प्रसन्न करने वाला होता है[3]।

---

१ ....।
एतेषा तु पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारस्तु विदूषका ॥
लिङ्गी द्विजो राजजीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम्।
देवक्षितिभृतामात्यब्राह्मणाना प्रयोजयेत् ॥
(नाट्यशास्त्र, चतुस्त्रिंश अध्याय, १९-२०)

२ स्निग्धा धीरोद्धतादीनां यश्चौचित्य वियोगिनाम्।
लिङ्गी द्विजो राजजीवी, शिष्याश्चैते विदूषका ॥
उचितश्च लिङ्गी देवतानाम्, ब्राह्मणस्य शिष्य, राज्ञा तु शिष्यवर्जास्त्र, एवं वणिगादेरपीति। (नाट्यदर्पण, पृ० १७८)

३. नायकानामथैतेषा चत्वार स्युर्विदूषका।
विदूषकस्तु देवानां सत्यवाक् च त्रिकालवत् ॥

अमात्य का विदूषक अश्लीलवक्ता, दम्पति के अपराधो का प्रकाशक, भक्ष्य एव अभक्ष्य सभी पदार्थों का प्रेमी होता है। यह दूसरो के दोषो को ढूँढता रहता है। इसके वाक्य परिहासयुक्त होते हैं एवं इसे परिहास कथा मे ही आनन्द प्राप्त होता है। इसके अङ्ग और वेष सभी विरूप होते हैं। वणिज् के विदूषक का वेष, अङ्ग, वचन एव परिहास सभी विरूप होता है। पुनश्च यह शठ होता है[१]। शारदातनय का पूर्वोक्त वर्णन सगत ही है।

ब्राह्मण होते हुए भी विदूषक प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करता है। भरत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि विदूषक को वार्तालाप करते समय प्राच्य प्राकृत का प्रयोग करना चाहिए[२]। इसी नियम का उल्लेख सागरनन्दिन् आदि विद्वानो ने भी किया है।[3] नाट्यदर्पणकार ने विदूषक को निम्नकोटि के पात्रो की श्रेणी मे रखा है[४]। निम्नकोटि के पात्रो की भाषा प्राकृत होती

कृत्याकृत्य विशेषज्ञ ऊहापोह विशारद ।
यथार्थदृष्टवादी च नाट्यवत् परिहासक ।।
विदूषकस्तु भूपानामग्राम्यपरिहासक ।
अर्थेषु स्त्रीपुशुद्धश्च देवी परिजन प्रिय ।।
ईर्ष्याकलहकारी स्यादन्त पुरचर सदा ।
नमवत् प्रणय क्रोधे दे०याकिञ्चित् प्रसादक ।।
× × × × ×
विदूषकश्च भूपानामेवादिगुणो भवेत् (भावप्रकाश, पृ० २८१)

१. अश्लीलवाक्यदम्पत्योरपराध व्यनक्ति च ।
भक्ष्याभक्ष्यप्रियो नित्य नर्मवक्ति च ।।
× × × ।
परिहासवच प्राय वाक्य परिहास कथारुचि ।।
एवमादिरमात्यादेर्विदूषकं गुणक्रम ।
शठो विरूपवेषश्च विरूपाङ्गवच क्रम ।।
विरूपपरिहासश्च विरूपाभिनयान्वित ।
इत्यादिभिर्गुणैर्युक्तो वणिजश्च विदूषक ।।
(भावप्रकाश, पृ० २८२)

२ प्राच्या विदूषकादीनाम्‥ ‥‥। (नाट्यशास्त्र, १८ अध्याय, ३८)

३ शौरसेनीमथप्राच्यामवन्ती कर्हिचित् पठेत् ।
एता एव वणिक् श्रेष्ठि बालकाश्च विदूषका ।।(नाटकलक्षणरत्नकोष)

४, नीचा विदूषका—क्लीब-शकार-विट-किङ्कराः ।
(नाट्यदर्पण, पृ० १७७)

है। इस प्रकार नाट्यदर्पणकार ने भी इस बात का संकेत कर दिया है कि विदूषक की भाषा प्राकृत होनी चाहिए।

शारदातनय के अनुसार विदूषक का नाम 'वात्स्यायन', 'शाकल्य', 'मौद्गल्य,' 'वसन्तक' और 'गालव' आदि होना चाहिए[1]। विश्वनाथ ने विदूषक के लिए 'कुसुम' और 'वसन्तक' नामों का उल्लेख किया है[2]। शिंगभूपाल ने इसके 'वसन्तक' और 'कापिलेय' नाम बताए हैं[3]। नाट्यदर्पण-कार ने विदूषक के नामों का उल्लेख नहीं किया है। उपर्युक्त विद्वानों के मतों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विदूषक का नाम कुसुम, ऋतु अथवा गोत्र से सम्बन्धित होना चाहिता।

नायिका

यद्यपि नाटक आदि रूपक में नायक का विशेष महत्त्व है तथापि नायिका का इससे कम महत्त्व नहीं है, विशेषकर श्रृङ्गार रस प्रधान रूपक में। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेदों का उल्लेख किया है—दिव्या, नृप-पत्नी, कुलस्त्री और गणिका। नाट्यदर्पणकार ने नाट्यशास्त्र के आधार पर ही नायिकाओं के चार भेद बताए हैं—कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया एवं पण्यकामिनी[4]। इन्होंने नृपपत्नी के स्थान पर 'क्षत्रिया' का उल्लेख किया है जो नृपपत्नी का ही द्योतक है।

काम और अर्थ का प्राधान्य होने से ललितोदात्त रूपक में पण्यकामिनी का निबन्धन करना चाहिए। प्रहसन से भिन्न रूपक में गणिका को नायक के प्रति अनुरक्त चित्रित करना चाहिए। यथा 'मृच्छकटिक' प्रकरण में वसन्तसेना को चारुदत्त के प्रति अनुरक्त चित्रित किया गया है। हास्य-निमित्तक प्रहसन आदि रूपक में इसे अननुरक्त के रूप में भी प्रदर्शित कर सकते हैं। दिव्य तथा नृपनायकादि वाले नाटक में गणिका का नायिका रूप में समावेश संगत नहीं है। परन्तु यदि 'गणिका' दिव्या हो तो उसे नायिका के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं[5]।

---

१. वात्स्यायनश्च शाकल्यो मौद्गल्यश्च वसन्तक.।
गालवश्चेत्येवमादि·················· ॥ (भावप्रकाश)

२. कुसुमवसन्ताद्यभिध (साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १०६)

३ वसन्तक कापिलेय इत्याद्ययो विदूषकः।
(रसार्णवसुधाकर, तृतीयविलास, पृ० ३०२)

४ नायिका कुलजा दिव्या, क्षत्रिया पण्यकामिनी। (नाटयदर्पण, पृ० १७९)

५ नाट्यदर्पण, पृ० १७९

'दिव्या' नायिका दिव्यकुल से उत्पन्न रहती है। इसी प्रकार 'क्षत्रिया' भी सद्वंशोद्भूता होती है। यह क्षत्रियकुल की होती है और प्राय नृप-पत्नी भी हुआ करती है।

अवस्था तथा कामभावना के आधार पर उपर्युक्त नायिकाओं को पुन तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

मुग्धा नायिका यौवन और कामभावना से युक्त रहती है। अनभिज्ञ होने के कारण यह सुरत आदि क्रीडाओं से विपरीत रहा करती है। यह नायिका रति से कतराती है। यथा कुमारसम्भव मे पार्वती शकर से सम्भोग के समय कतराती रहती हैं। 'शकर के कुछ कहने पर पार्वती प्रत्युत्तर नही देती थी। बिठाने या आलिङ्गन करने के समय वस्त्र पकड लेने पर जाने का प्रयत्न करती थी। शकर के साथ एक ही शय्या पर शयन करने पर भी वह पराङ्मुख रहा करती थी। फिर भी शकर जी प्रसन्न होते थे[1]।'

मध्यम आयु, मध्यम काम और मध्यम मान वाली नायिका 'मध्या' होती है। सुरतानन्द से कुछ परिचित होने के कारण यह सुरत को मूर्च्छा पर्यन्त सहन कर सकती है।[2] नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर वह मान प्रकट करती है ऐसी अवस्था में उसके तीन भेद होते हैं-धीरा, अधीरा, धीराधीरा। प्रिय के अपराध करने पर 'धीरा' मध्या वक्रोक्ति के द्वारा उसके हृदय को दु खित करती है, अधीरा नेत्रों मे अश्रु भरे हुए कठोर वचन सुनाती है, 'धीरा-धीरा' रुदन करने के साथ ही साथ व्यंग्य वचनो का प्रयोग भी करती है।

प्रगल्भा नायिका मे यौवन, क्रोध और काम अत्यन्त दीप्त रहा करता है। प्रिय के द्वारा स्पर्श किए जाने पर ही वह चैतन्य का त्याग कर अचेतन सी हो जाती है। यथा—'हे सखि ? सुरत क्रीडार्थ जब शय्या पर प्रिय का आगमन होता है तो नीवी-बन्धन स्वयं छूट जाता है, मेखला के कारण अधोवस्त्र नितम्ब पर ठहर जाता है। क्या बताऊँ मैं इतना ही जान पाती हू। तदनन्तर प्रियस्पर्श से आनन्दविभोर हो जाती हूँ। मैं कौन हू ? वह कौन है ? सुरत क्रीडा क्या है ? इन सब बातो का मुझे कुछ भी ज्ञान नही रहता।[3] मध्या नायिका के समान इसके भी तीन भेद हैं— धीरा, अधीरा, धीराधीरा। 'धीरा' प्रगल्भा या तो आवश्यकता से अधिक नायक का आदर करती है या सुरत के प्रति

१. कुमारसम्भव, अष्टमसर्ग, २

२ नाट्यदर्पण, पृ० १७९

३. दशरूपक की 'अवलोक' टीका मे धनिक द्वारा उद्धृत।

उदासीनता प्रकट करती है। 'अधीरा' प्रगल्भा क्रोध मे आकर नायक की ताडना करती है। धीराधीरा प्रगल्भा व्यंग्य और कठोर वचन कहती है।

नायिकाओं का वर्गीकरण अन्य आधार पर भी किया जा सकता है। नायक के सम्बन्ध के आधार पर नायिका के तीन भेद हैं—स्वीया, अन्या और सामान्या। 'स्वीया' नायिका नायक की परिणीता पत्नी होती है। यथा 'उत्तररामचरित' मे राम की सीता। 'अन्या' या तो किसी व्यक्ति की अनूढा कन्या हो सकती है या अन्य किसी की विवाहिता पत्नी। अनूढा कन्या का रूप हम 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे देख सकते हैं। परस्त्री का नायिका के रूप मे प्रयोग नीति व धर्म के विरुद्ध होने के कारण नाटक आदि मे नही किया जाता है। कन्या के प्रति अनुराग वर्णन मे कोई दोष नही है। 'सामान्या' नायिका साधारण स्त्री होती है। वह प्रायः गणिका होती है जो कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है। जो लोग गुप्तरीति से कामवासना की तृप्ति करते हैं, अत्यधिक धन प्रदान करते हैं, मन्दबुद्धि हैं, स्वच्छन्द एवं नपुसक हैं ऐसे लोगों से गणिका उस प्रकार व्यवहार करती है जैसे सचमुच ही उनसे प्रेम करती है परन्तु उनके दरिद्र होने पर उन्हे घर से निकलवा देती है।

उपर्युक्त समस्त नायिकाएँ प्रकृतिभेद से नौ तरह की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा[1]। उत्तम प्रकृति की स्त्री लज्जायुक्त, मृदुस्वभाव वाली, धीरा, गम्भीरा, स्मितहास करने वाली, विनीता, कुलजा, चतुरा और स्नेहला होती है। मध्यम प्रकृति की स्त्री में मध्यम गुण और अधम प्रकृति की स्त्री मे अधम गुण पाए जाते हैं।

अवस्था के भेद से नायिकाएँ आठ प्रकार की होती हैं-प्रोषितप्रिया, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, विरहोत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका एवं अभिसारिका[2]। जिस नायिका का प्रिय धनोपार्जन एवं राज-प्रयोजन आदि के कारण देशान्तर मे स्थित रहता है, शृङ्गार आदि से रहित वह नायिका **प्रोषितप्रिया** कहलाती है। समय पर प्रिय के न आने से दुखित नायिका को **विप्रलब्धा** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। **खण्डिता** पति की अन्य स्त्री के प्रति आसक्ति के कारण ईर्ष्यायुक्त होकर अन्य स्त्री के पास जाते समय उसके वस्त्रों को खण्डित कर देती है। 'खण्डिता' नायिका का नायक अन्य स्त्री मे अनुरक्त रहता है परन्तु विप्रलब्धा' नायिका का पति अन्यस्त्री मे अनुराग नही रखता है। यही इन दोनो नायिकाओं मे भेद है। **कलहान्तरिता** नायिका,

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १७४—७५
२. नाट्यदर्पण, पृ० १८०–८१

नायक के अपराध करने पर ईर्ष्या तथा कलह के कारण, उसका परित्याग कर देती है और बाद में पश्चात्ताप भी करती है।

अपना कोई दोष न होने पर भी अन्य नायिका के प्रति आसक्ति के कारण नायक के आगमन में विलम्ब देखकर उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा करने वाली नायिका **विरहोत्कण्ठिता** कहलाती है। प्रिय के आने की आशा होने पर अपने को हर्ष से सँवारती हुई नायिका **वासकसज्जा** है। पूर्वोक्त समस्त नायिकाओं में विप्रलम्भ शृङ्गार है। इस नायिका में सम्भोग शृङ्गार है। यही इसका अन्य सब नायिकाओं से भेद है।

नायक के अपने वश में और सदैव समीपवर्ती होने पर अपने को सुन्दर समझने वाली नायिका **स्वाधीनभर्तृका** कहलाती है। यह नायिका सदैव प्रिय के समीप उपस्थित रहती है। अतएव पूर्वोक्त समस्त नायिकाओं से भिन्न है। जो सुरतार्थिनी नायिका स्वयं नायक के पास गमन करती है या प्रिय को अपने समीप बुलाती है, वह **अभिसारिका** नायिका कही जाती है।

उपर्युक्त समस्त नायिकाओं में निम्न बीस गुणों की स्थिति मानी गई है[१]। ये गुण अलंकार कहे जाते हैं। इन बीस अलङ्कारों में से कुछ तो अङ्गज, कुछ स्वभावज और कुछ अयत्नज हैं। भाव, हाव, और हेला अङ्गज, विभ्रम, विलास, विच्छित्ति, लीला, विब्बोक, विहृत, ललित, कुट्टमित, मोट्टायित और किलकिंचित स्वभावज, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, धैर्य और प्रागल्भ्य अयत्नज हैं। अब हम क्रम से इन सबका वर्णन करेंगे।

नायिका के हृदय में प्रथम उत्पन्न विकार, जो उसके रति और उत्तम प्रकृति के निश्चय का कारण होता है, **भाव** नाम से अभिहित किया जाता है। विकार की इस सर्वप्रथम अवस्था में नायिका की वाणी, कर एवं पाद आदि अङ्गों में पहले की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की विशिष्टता या विचित्रता उत्पन्न हो जाती है। सहृदय सामाजिक नायिका की वाणी, कर एवं पाद आदि की विचित्रता देखकर लक्षित कर लेते हैं कि इसके हृदय में रति

---

१ भावाद्यायौवने स्त्रीणामलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।
दशस्वाभाविकश्चैते क्रयाऽल्पास्त्रयोदश ॥
सति भोगे गुणाः सप्तायत्नजाश्च स्वभावजाः ।
नावश्यम्भाविनोऽप्येषा, विंशति स्त्रीषु मुख्यतः ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १८१)

का आविर्भाव हो रहा है और यह उत्तम प्रकृति की नायिका है। नायिका के नेत्र, भ्रू, चिबुक एव ग्रीवा आदि निश्चित अङ्गो मे सातिशय उत्पन्न विकार को हाव कहते हैं। यह विकार शृङ्गारोचित होता है एव कभी प्रकट होता है और कभी विच्छिन्न हो जाया करता है। अतएव यह शृंगार रस को प्रकट रूप मे अच्छी तरह अभिव्यक्त नही कर पाता है। यही विकार जब सातिशय होकर शृङ्गाररस—रतिभाव को अच्छी तरह अभिव्यक्त करने लगता है, तब इसे हेला कहते हैं। इसमें तारुण्य प्रकर्ष पर पहुँच जाता है।

प्रियतम के प्रति राग, मद एव हर्ष आदि के कारण आभूषणो को उचित स्थान पर न धारण करना 'विभ्रम' है। प्रिय के दर्शन एव सम्भाषण आदि के समय गात्र और आङ्गिक चेष्टाओ (गमन निरीक्षण आदि) मे जो तात्कालिक विशेषता उत्पन्न होती है, उसे विलास कहते हैं। प्रकृष्ट सौभाग्य आदि गुणो के वर्तमान रहने से स्वल्प भी आकल्प रचना जहाँ शोभा मे अधिकता उत्पन्न करती है, वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है। प्रिय के वचन, वेश और व्यापार आदि को शृङ्गाराभिव्यक्तिपूर्वक अपने में यथार्थ बनाना लीला है। मान (चित्त समुन्नति) एव दर्प के कारण इष्ट वस्तु (वस्त्र, माल्य एव अलकार आदि) मे भी नायिका का अनादर दिखाना विब्बोक है। लज्जा छद्म एव मुग्धता आदि के कारण भाषण के लिए उचित समय आने पर भी मौन रहना विहृत है। गात्र, नेत्र एव हाथ आदि का अतिमनोहर एव निष्प्रयोजन व्यापार ललित है। प्रियतम के द्वारा केश, स्तन एव कर आदि के ग्रहण करने पर हृदय से प्रमुदित होने पर भी नायिका के झूठे क्रोध का प्रदर्शन कुट्टमित है। प्रिय के दर्शन तथा उसकी कथा आदि का श्रवण करते समय उसके भाव से युक्त होकर अङ्ग मर्दन पर्यन्त नायिका की चेष्टा को मोट्टायित कहते हैं। नायिका मे एक साथ स्मित, अश्रु, कम्प, भय, हास, श्रम, क्रोध, गर्व, दुःख एव अभिलाषा के साकर्य का पाया जाना किलकिंचित है।

पति द्वारा उपभुज्यमान यौवन, रूप और लावण्य आदि की सौन्दर्यातिशयता को शोभा कहते हैं। शोभा के विस्तार को कान्ति एव कान्ति के विस्तार को दीप्ति कहते हैं। ताप (शोक, क्रोध, भय, अमर्ष, ईर्ष्या आदि से उत्पन्न होने वाला सन्ताप) आदि मे भी सौम्य रहना माधुर्य है। विनय आदि का अपरित्याग औदार्य है। आत्मश्लाघा एव चञ्चलता आदि से रहित मनोवृत्ति को धैर्य कहते हैं। सुरत क्रिया मे दक्ष होना प्रागल्भ्य है।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे आठ स्वभावज अलङ्कार और बताए हैं—तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल हसित, चकित और केलि। प्रियतम

के वियोग मे कामोद्वेग से उत्पन्न चेष्टाएँ तपन हैं। जानी हुई बात को भी प्रियतम से अनजान होकर पूछना मुग्धता है। अकारण ही रहस्यमयी दृष्टि से इधर-उधर देखना विक्षेप है। रमणीय वस्तु को देखने के लिए चञ्चल हो उठना कुतूहल है। यौवनोद्गम से उत्पन्न वृथा हास हसित है। प्रिय के समक्ष अकारण भयभीत होना चकित है। सुरत आदि के समय पति के साथ काम-क्रीडा केलि है।

युवावस्था मे उत्तम प्रकृति वाले पुरुषो और स्त्रियो मे भाव-हाव आदि अलङ्कार कटक केयूर आदि के समान शरीर-शोभा के जनक हैं। ये युवती स्त्रियो के मुख्य रूप से अलङ्कार होते हैं। पुनश्च ये बाल्यावस्था में भी कुछ उदित होते हैं और वृद्धावस्था में अधिकाश प्राय नष्ट हो जाते हैं।

नायिकाओ का नायक के साथ समागम कराने में धात्रेयी (स्तन्य-दायिनी), लिङ्गिनी, पडोसिन, शिल्पिनी, दासी एव सखियाँ सहायता करती हैं[1]। इन पात्रो में रहस्य को धारण करने की योग्यता, देश-काल का ज्ञान अनहकार, अचाञ्चल्य आदि गुणो का पाया जाना आवश्यक है।

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १८५

चतुर्थ अध्याय

वृत्ति एवं अभिनयादि विचार

वृत्ति

वृत्' धातु मे 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'वृत्ति' शब्द की निष्पत्ति हुई है। भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के दशरूपकाध्याय मे इस तथ्य का उल्लेख किया है कि 'वृत्ति' काव्य की जननी है[1]। तदनन्तर इस बात को भी उल्लिखित किया है कि वृत्ति नाट्य की माता है[2]। अभिनवगुप्त के अनुसार वृत्ति पुरुषार्थ साधक व्यापार है। काव्य मे कोई भी वर्णन व्यापारशून्य नहीं होता है। अतएव 'वृत्ति' का साम्राज्य काव्य जगत म अबाध रूप से है। वृत्ति को काव्य की माता कहने का यही अभिप्राय है[3]। पुन इनके अनुसार काय, वचन और मन की विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। नाटयदर्पणकार की वृत्ति परिभाषा अभिनवगुप्त की ही परिभाषा पर आधारित है। इनके अनुसार पुरुषार्थसाधक नाना प्रकार के व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं[4]। हमे अब विचार करना है कि पुरुषार्थ है क्या ? हम पुरुषार्थ की निम्न परिभाषा कर सकते हैं—

व्यक्ति के जीवन का प्रधान उद्देश्य, वह वस्तु या प्रयोजन जिसके लिए मनुष्य को उद्योग करना चाहिए, पुरुषार्थ है।' पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस प्रकार वृत्ति का तात्पर्य वह व्यापार है जो जीवन के प्रधान प्रयोजक को सिद्ध करने म सहायता प्रदान करता है।

नाट्यदर्पणकार ने इसे 'नाट्य की माता' बताते हुए लिखा है कि भरत ने जो इस 'नाट्य की माता' कहा है, वह उपलक्षण मात्र है। वास्तव मे यह वृत्ति अभिनेय व अनभिनेय दोनों काव्यो मे हो सकती है। नाटय अथवा काव्य का ऐसा कोई व्यापार नही है जो वृत्ति से शून्य हो। कवि के हृदय मे

---

१ सर्वेषामेव काव्याना मातृका वृत्तय स्मृता ।

(नाटयशास्त्र, अध्याय २०, ४)

२ एवमेते बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातर ।(नाट्यशास्त्र, अध्याय २२, ६४)

३ तस्माद्व्यापार पुमर्थसाधको वृत्ति । स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्ति काव्यस्य मातृका इति न किञ्चित् व्यापारशून्य वर्णनीयमस्ति ।

(अभिनवभारती, द्वितीय भाग, पृ ४८०)

४ पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्ति । (नाट्यदर्पण, पृ० १३७)

वर्णनीय रूप से स्थित इनसे ही काव्य की उत्पत्ति होती है। कहने का तात्पर्य है कि कवि अपने काव्य में कायिक वाचिक और मानसिक व्यापारों का ही वर्णन करता है। ये तीनों व्यापार ही काव्य के जनक हैं और भारती आदि वृत्तियाँ त्रिविध व्यापार रूप ही हैं। अभिनेय काव्य में वर्णित पात्रों की चेष्टाओं के तुल्य ही अनभिनेय (श्रव्य) काव्य में वर्णित चेष्टाएँ भी वृत्ति रूप ही हैं। अतएव वृत्तियाँ—काव्य की उत्पादिका होने से ही माता के समान होने के कारण—काव्य की माता कही जाती हैं[1]। नाट्यदर्पणकार की यह उक्ति संगत ही है। वास्तव में वृत्तियाँ दोनों ही काव्यों की माता हैं। 'नाट्यमातर' इसमें 'नाट्य' पद प्रकरण की दृष्टि से आया है। नाट्यनिरूपण के प्रसङ्ग में ही इसे 'नाट्यमातर' कहा गया है, वैसे ये वृत्तियाँ अभिनेय काव्य की ही नहीं अपितु श्रव्य काव्य की भी माता हैं।

भरत ने वृत्तियों का सम्बन्ध चारों वेदों से बताया है। इनकी सम्मति में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद से क्रमशः भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियों की उत्पत्ति हुई[2]। ऋग्वेद में स्तुति की प्रधानता विद्यमान है, अतएव इस वेद से पाठ्यप्रधाना भारती वृत्ति की उत्पत्ति मानना नितान्त उचित है। इसी प्रकार यजुर्वेद से सात्वती वृत्ति का सम्बन्ध स्थापित करना ठीक ही है क्योंकि यजुर्वेद अध्वर्यु नामक ऋत्विग् से सम्बन्धित है। यह ऋत्विग् यज्ञ सम्बन्धी कार्यों को सम्पादित करता है जिसमें क्रियाशील होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इस वेद से सात्वती वृत्ति की उत्पत्ति स्वाभाविक है। संगीतप्रधान सामवेद से सुकुमार चेष्टायुक्त कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। विविध कार्यों से युक्त अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति का प्रादुर्भाव स्वाभाविक ही है। अतएव भरत ने जिन वेदों से इन वृत्तियों का सम्बन्ध बताया है वह उचित ही है।

भरतमुनि ने वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ी रोचक कथा कही है। शेषनाग की शय्या पर योग में लीन भगवान नारायण की नाभिकमल के ऊपर ब्रह्मा विद्यमान थे। ऐसे अवसर पर मधुकैटभ नामक दैत्य इन्हें युद्ध के

---

१ 'नाट्य–' इति च प्रस्तावापेक्षम्, तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव, न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति।
(नाट्यदर्पण, पृ० १३७)

२ ऋग्वेदाद् भारतीवृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय २२, २४)

लिए उत्तेजित करने लगा। ब्रह्मा के द्वारा जगाये जाने के बाद विष्णु भगवान ने उन राक्षसों का नाश किया। इस युद्ध के अवसर पर विष्णु की विभिन्न चेष्टाओं से विभिन्न वृत्तियों की उत्पत्ति हुई। विष्णु के पृथ्वी पर पादप्रक्षेप करने से भारती वृत्ति, भय रहित चेष्टाओं से सात्वती वृत्ति, शिखा बाँधने से कैशिकी वृत्ति एवं आवेगयुक्त युद्ध से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई[1]। भरतमुनि के द्वारा बताई गई उपर्युक्त कथा वैष्णव धर्म से सम्बन्धित है। शारदातनय के अनुसार शिव और पार्वती के नृत्य का अवलोकन करते हुए ब्रह्मा के चारों मुख से चारों वृत्तियों का आविर्भाव हुआ। ब्रह्मा के पूर्व मुख से कैशिकी वृत्ति और शृङ्गाररस, दक्षिण मुख से सात्वती और वीर रस, पश्चिम मुख से आरभटी वृत्ति और रौद्ररस, उत्तर मुख से भारतीवृत्ति और वीभत्स रस का आविर्भाव हुआ[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं। एक परम्परा वैष्णव मत का प्रतिपादन करती है तो दूसरी शैवमत का। भरतनाट्यशास्त्र में दोनों परम्पराएँ वर्णित हैं।

इन वृत्तियों के चार भेद हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी।[3] यह भेद नितान्त सगत है। वचन तथा चेष्टाओं के सम्मिलन को नाट्य कहते हैं। अभिनेता वचनों के द्वारा अपने मनोगत अभिप्राय को प्रकाशित करता है। वचन से सम्बन्धित वृत्ति को 'भारती' वृत्ति कहते हैं।[4] चेष्टा के भी दो भेद हैं—सात्विक एवं आंगिक। सात्वती वृत्ति में सात्विक अभिनय की प्रधानता रहती है।

---

१. भूमिसस्थानसयोगे पदन्यासैस्तदा हरे।
अतिभारोऽभवद् भूमेर्भारती तत्र निर्मिता॥
वल्गितै शार्ङ्ग धनुषस्तीव्रैर्दीप्तिकरैरथ।
सत्वाधिकै रसभ्रान्तैस्सात्वती तत्र निर्मिता॥
विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीला समुद्भवै।
बबन्धयच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता॥
सरम्भावेगबहुलैर्नाना-चारी समुत्थितै।
नियुद्धकरणैश्चित्रैर्निर्मिताऽऽरभटी ततः॥
(नाट्यशास्त्र अध्याय २२–११, १२, १३, १६)

२ भावप्रकाश, तृतीय अधिकार, पृ० ५७

३ भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तय।
रस भावाभिनयगा · · ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १३७)

४ भारती रूपत्वाद् व्यापारस्य भारतीति। (नाट्यदर्पण, पृ० १३६)

यह वृत्तिमानस व्यापार रूप होती है¹जहाँ अङ्गों के द्वारा क्रोध आदि उग्र भावों का प्रदर्शन होता है,वहाँ 'आरभटी' वृत्ति होती है। इसके विपरीत जहाँ अंगों के द्वारा रति आदि सौम्य भावों का प्रदर्शन होता है,वहाँ कैशिकी वृत्ति होती है। इन प्रकार वृत्तियों की संख्या चार ही है।

उपर्युक्त चारों वृत्तियाँ रस, भाव और अभिनय का अनुगमन करती हैं क्योंकि ये इन्हीं से युक्त रहा करती हैं। यदि हम चार वृत्तियाँ न मानें, तब नाट्य में एक ही वृत्ति मानी जायगी। अनेक व्यापारों से मिला हुआ वृत्ति-तत्त्व एक ही है। क्योंकि प्रबन्ध में कोई भी व्यापार एक दूसरे से असंवलित नहीं रहता है। इसमें कायिक, वाचिक व मानसिक जितने भी व्यापार पाए जाते हैं, सब एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। कायिक व्यापार मानसिक एवं वाचिक व्यापार से युक्त रहता है। क्योंकि शब्दों द्वारा निर्दिष्ट मानसिक ज्ञान के बिना कोई कायिक व्यापार सम्भव नहीं है। मन प्रत्यय के बिना रञ्जक कायिक व्यापार कथमपि नहीं हो सकता है। इसी प्रकार वायपरिस्पन्द के बिना वाचिक एवं मानसिक व्यापार भी नहीं हो सकते। क्योंकि तालु आदि कायिक व्यापार के अभाव में हम वचनों का उच्चारण करने में असमर्थ रहते हैं। प्राणादिरूप कायिक व्यापार के अभाव में मनोव्यापारों का भी परिज्ञान नहीं हो सकता है। मन व्यापार के बिना कायिक एवं वाचिक व्यापार अरञ्जक हो जायेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त व्यापार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। फिर भी चारों वृत्तियों के परस्पर संकीर्ण होने पर भी तत् तत् अंश की प्रधानता की दृष्टि से चार प्रकार की वृत्तियाँ कही गई हैं। अब हम प्रत्येक वृत्ति पर क्रमशः विचार करेंगे।

भारतीवृत्ति—भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार जब विष्णु, मधु और कैटभ इन दोनों राक्षसों से युद्ध करते समय व्यस्त थे, तब इन राक्षसों ने विष्णु के प्रति अपशब्द कहना प्रारम्भ कर दिया। इससे बहुत देर तक इन दोनों के मध्य वाक्‌युद्ध होता रहा। ब्रह्मा ने इसको भारती वृत्ति की संज्ञा प्रदान की²। अभिनवगुप्त ने भी इसे 'पाठ्यप्रधाना' और 'वाग्वृत्ति' कहा है।

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १३९

२. भावतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति।

(नाट्यशास्त्र, अध्याय २२—९)

किमिदं भारती वृत्तिः वाग्भिरेव प्रवर्तते।

(नाट्यशास्त्र, अध्याय २२—७)

नाट्यदर्पणकार के अनुसार भारती (वाणी) रूप होने से इसे, 'भारती' कहते हैं[1]। इसमें वाक् अभिनय की प्रधानता रहती है। अतएव इसे 'वाग्-व्यापारात्मिका' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। शिंगभूपाल ने इस वृत्ति को 'भारती' वृत्ति इसलिए कहा है क्योंकि यह भरत (नट) की वृत्ति है[2]। भरत ने भी एक बार कहा है—'स्वनामधेयैर्भरतै प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्ति'[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी विद्वानो ने इसमे पाठ्य व वाग्व्यापार आदि की ही प्रधानता मानी है।

भरत ने इस वृत्ति को 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' कहा है। परन्तु धनञ्जय[4] व नाट्यदर्पणकार[5] आदि विद्वानो ने इस 'सस्कृतप्रायो वाग्व्यापार' व 'प्राय सस्कृत, से अभिहित किया है। भरत के मत से तो यह प्रतीत होता है कि इसमे प्राकृत आदि भाषाओं का प्रयोग नहीं हो सकता है परन्तु यह मत अनुपयुक्त है। *नाट्यदर्पणकार का ही मत समीचीन है क्योकि इसमें भारती वृत्ति मे प्राकृत* आदि भाषाओं के भी, रूपको के किसी किसी भाग मे दर्शन होते हैं। परन्तु सस्कृत भाषा की ही बहुलता पायी जाती है। अतएव इस वृत्ति को 'सस्कृत-वाक्ययुक्ता' न कहकर इसे 'सस्कृतप्रायो वाग्व्यापार' कहना चाहिए।

भरत ने इस वृत्ति को पुरुष प्रयोज्या' व 'स्त्रीवर्जिता' कहा है। इसके अनुसार इस वृत्ति मे स्त्रियो का प्रयोग वर्जित है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से हो सकता है। स्त्रिया स्वभावत लज्जाशील हुआ करती हैं। अतएव वे वचनो का अल्प प्रयोग करती हैं। इसकी अपेक्षा वे सात्त्विक अभिनय का ही आश्रय ग्रहण करती हैं। हम देखते हैं कि नायिका को देखकर नायक श्लोको की झडी लगा देता है परन्तु नायिका चुप ही रहती है। इस लिए भरत न सम्भवत कहा होगा कि यह वृत्ति पुरुषो की ही है।

दूसरा कारण यह हो सकता है कि जैसा भरत न कहा है कि कैशिकी वृत्ति सबसे बाद म उत्पन्न हुई। अत यह भी सम्भव है कि इस वृत्ति की उत्पत्ति के पूर्व पुरुष ही अभिनय करते हो। इस प्रकार यही दो कारण हो सकत हैं जिससे भरत ने इसे 'स्त्रीवर्जिता' कहा है।

---

१ भारती रूपत्वात् व्यापारस्य भारतीति। (नाट्यदर्पण, पृ० १३६)

२ प्रयुक्तत्वेन भरतै भारतीति निगद्यते। (रसार्णवसुधाकर, १—२६१)

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय २२—२५.

४ भारती सस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो। (दशरूपक, तृतीय प्रकाश, ५)

५ नाट्यदर्पण, पृ० १३५

नाट्यदर्पणकार ने इसे सभी रूपकों (अभिनेय व अनभिनेय) में जाने वाली कहा है। यह ठीक ही है क्योंकि कोई भी रूपक ऐसा नहीं है जिसमें वाग्व्यापार की सहायता न लेनी पड़ती हो। काव्यों का सारा वर्णन प्राय भारतीवृत्तिमय होता है। साथ ही साथ इन्होंने यह भी कहा है कि इस वृत्ति का प्रयोग समस्त रसों में किया जाता है।[1]

धनञ्जय[2] का भी यही विचार है। भरत के अनुसार करुण और अद्भुत रस में इस वृत्ति का समावेश करना चाहिए[3]। परन्तु इनका यह मत समीचीन नहीं है। निस्सन्देह करुण रस में अत्यधिक वाग्विलास पाया जाता है। इसी प्रकार अद्भुत रस में भी वाग्व्यापार की ही अधिकता रहती है। प्रेक्षक आश्चर्यजनक वस्तु को देखने के बाद आनन्द से चकित हो उठता है एव निरर्थक वाक्यो के द्वारा अपने हृदयगत भावों को प्रकट करता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य तो नहीं है कि यह वृत्ति अन्य रसो के लिए अनुपयोगिनी है। यह समझ में नही आता कि करुण व अद्भुत रस मे वाग्व्यापार की कितनी अधिकता रहती है जो कि अन्य रसो मे नहीं पायी जाती है। पुन करुण तथा अद्भुत रस मे अधम प्रकृति के ही पात्र शब्दों का अधिक मात्रा मे प्रयोग करते हैं। उत्तम प्रकृति के पात्र इन दोनों अवस्थाओ मे मूक रहते हैं। पुन हम देखते हैं कि करुण रस जब अपनी अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुच जाता है, तब उसमे वाग्व्यापार को कुछ भी आवश्यकता नही रहती है। उस समय सात्त्विक अभिनय की ही सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार जब अद्भुत रस भी अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है, उस समय भी व्यक्ति आश्चर्यचकित होकर मूक हो जाता है। उसके मुख से एक शब्द भी नही निकलता है। पुनश्च क्या शृङ्गार रस मे नायक आदि अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिए शब्द-व्यापार का आश्रय नही ग्रहण करते? अत यह कहना कि करुण तथा अद्भुत रस में ही भारती वृत्ति का समावेश उचित है संगत नही है।

भारती वृत्ति में प्ररोचना और आमुख का वर्णन पाया जाता है। अतएव इसका भी निरूपण कर देना अनुचित न होगा।

आमुख—जहाँ सूत्रधार विदूषक, नटी या मार्ष के साथ वार्तालाप करते हुए, वक्रोक्ति (साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक) या स्पष्टोक्ति

१ नाट्यदर्पण, पृ० १३५

२. वृत्ति सर्वत्र भारती। (दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, ६२)

३ भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया।

(नाट्यशास्त्र, त्रयोविंश अध्याय ६६)

(साक्षात् विवक्षित अर्थ का प्रतिपादक) के द्वारा प्रस्तुत काव्यार्थ का सम्पादन करे वहाँ 'आमुख' होता है[1]। इसे 'प्रस्तावना' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। हमारे देश मे रूपक के प्रारम्भ मे प्रस्तावना देने की प्रथा रही है। वैसे तो पूर्वरङ्ग के पाठ्य आदि कई भेद हैं किन्तु उनमे से नान्दी का ही विशेष महत्त्व है। क्योंकि पूर्वरङ्ग के कुछ अङ्ग या तो निष्फल हैं अथवा उनका प्रयोग अवश्यम्भावी नही है। अब हम यहाँ प्रसगवश नान्दी का वर्णन करेंगे।

प्राय सभी कवियो द्वारा ईप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आरम्भ मे आशीर्वचनात्मक एव नमस्कारात्मक स्तुति की जाती है। इसी को 'नान्दी' कहते हैं। यह नमस्कारात्मक स्तुति देव, द्विज एव नृप आदि के प्रति की जाती है[2]। इस नान्दी का प्रयोग नित्य है। अभिनवगुप्त ने 'नित्य' की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

"अहरहस्त्वेषा प्रयोज्या। एव च नित्यमेव रूपमेव। अन्यपाठ्यादीना प्रयोगवशादन्यथात्वोपपत्तिर्दृश्यते। न तु नान्दी पाठस्येति नित्यशठरस्याभिप्राय।" नाट्यदर्पणकार ने भी नान्दी की परिभाषा इसी प्रकार से की है। इनके अनुसार देव, भूप, सभा, स्वामी, सरस्वती एव कवियो आदि के गुण के कथन को अथवा आशीर्वचनात्मक वाक्यो को 'नान्दी' कहते हैं। इस नान्दी का प्रयोग रूपक के आरम्भ मे नित्य करना चाहिए[3]। नान्दी का सभी रूपको मे एक ही स्वरूप रहता है। यह 'नित्या' का अभिप्राय है। अथवा समस्त रूपकों में नान्दी का अवश्यम्भाव होने से नित्यत्व कहा गया है। पूर्वरङ्ग के अन्य अङ्गो का प्रयोग आवश्यक नहीं है। पुनश्च जब तक रूपको का अभिनय रहेगा तब तक नान्दी का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रतिदिन प्रयोग किए जाने के कारण 'नान्दी' का नित्यत्व है[4]।

---

१ विदूषकनटीमार्षे प्रस्तुताक्षेपि भाषणम्।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम्॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १३६)

२ आशीर्वचनसयुक्ता नित्य यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति सज्ञिता॥(नाट्यशास्त्र,अध्याय ५–२४)

३ देव भूप-सभा भर्तृ मुख्याना मङ्गलाभिधा।
नित्या रूपमुखे नान्दी ' ''॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १७१)

४ नित्या एवंविधरूपैव, अपरेषा तु पाठ्यानामुत्थापनादीना पूर्वरङ्गाङ्गाना प्रयोगवशाद-यथात्वमपि भवति, अवश्यम्भावाद् वा नित्यत्वम्, तेषाणा हि रङ्गाङ्गाना नावश्यम्भाव, अहरह प्रयोज्यत्वाद् वा नित्यत्वम्। यावद्धि रूपकस्याभिनयस्तावदेषा नान्दी प्रणेतव्यैव। (नाट्यदर्पण, पृ० १७१)

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' मे नान्दी का निम्न स्वरूप दिया है—

(१) शंकर के बैल नन्दी ने सृष्ट्यारम्भ मे नृत्य करते हुए कल्पना के योग से रङ्गता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उस रूप के सम्बन्ध से जो देवता आदि को नमस्कार रूपक के आरम्भ मे किया जाता है, वह 'नान्दी' है।

(२) अथवा जो क्रिया सामाजिको को प्रसन्न करे, वह 'नान्दी' है।

(३) अथवा पूर्वरङ्ग के सम्बन्ध से बाइस अङ्गोवाली जो क्रिया, नाटय के आरम्भ मे सबको प्रसन्न करने के लिए, की जाती है उसे 'नान्दी' कहते हैं[१]। उपर्युक्त स्वरूपो को ध्यान मे रखकर कहा जा सकता है कि—

(१) रूपक के प्रारम्भ मे 'नान्दी' का प्रयोग नित्य होता है। इसका प्रयोग अवश्यम्भावी है।

(२) इसमे गुरुजनो के प्रति नमस्कारात्मक स्तुति की जाती है।

(३) इससे सामाजिक जन प्रसन्न होते हैं।

नान्दी का पाठ प्राय कवि ही करता है। इसीलिए नाटक मे 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' का प्रयोग मिलता है। परन्तु जहाँ कवि नान्दी का पाठ नही करता है, वहाँ सूत्रधार, स्थापक एवं पारिपार्श्विक ही 'नान्दी' का पाठ करते है। तब 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' का प्रयोग नही किया जाता है।

आमुखाङ्गभूतनाट्यपात्रप्रवेशविधि—सूत्रधार अथवा स्थापक के द्वारा कहे गए वाक्य, अर्थ समय तथा नाम के द्वारा मुख्य नायक आदि के वेष को धारण करने वाले नट आदि का प्रवेश होता है[२]। कहने का तात्पर्य है कि कही समान इतिवृत्त वाले वाक्य को लेकर उसी के समान उक्ति का प्रयोग करते हुए पात्र प्रवेश करते हैं, कही समान वाक्यार्थ को लेकर पात्र मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं, कही काल (ऋतु आदि) का वर्णन करते हुए श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है और कही आह्वान के द्वारा (यह वह आ रहा है, इस प्रकार के वचनों द्वारा) पात्रो का मञ्च पर प्रवेश कराया जाता है।

वाक्य के द्वारा प्रवेश 'रत्नावली' मे प्राप्त होता है जहाँ यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादि को अपनी उक्ति मे कहता हुआ प्रविष्ट होता है।

अर्थ के द्वारा प्रवेश जैसे 'वेणीसंहार' के आमुख मे—

---

१ भावप्रकाश, सप्तम अधिकार, पृ० १९६

२ वाक्यार्थ-समयाह्वानैर्भावोक्ते पात्रसङ्गमः। (नाट्यदर्पण, पृ० १३६)

"वैरभाव के नष्ट हो जाने से पाण्डुपुत्र कृष्ण भगवान के साथ आनन्द मनावें। जिन्होंने विग्रह को समाप्त करके पृथ्वी पर प्रेम से आधिपत्य स्थापित कर लिया है, वे अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ रहें"[1]। इस श्लोक में भीमसेन सूत्रधार के वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है।

समय के वर्णन से मुख्य पात्र का प्रवेश जैसे 'छलितराम' में—

"यह शरद ऋतु का सुहावना समय है जिसमें चन्द्र-प्रकाश भलीभाँति प्रस्फुटित हो चुका है। गहन अन्धकार युक्त वर्षा के समय को नष्ट कर गुल-दुपहरिया का फूल उसी तरह सुशोभित हो रहा है जैसे निर्मल चन्द्रहास से युक्त मनोहर रामचन्द्रजी आ रहे हैं जिन्होंने अपने बन्धुओं को सम्भृत कर लिया है तथा अज्ञानयुक्त उग्र राक्षसों को नष्ट कर दिया है। इसमें शरत्काल और रामचन्द्र दोनों पक्षों में लगनेवाले समान विशेषणों से और राम शब्द का कथन करने से रामचन्द्र के प्रवेश की सूचना मिलती है।

आह्वान से पात्र का प्रवेश यथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में—

'तवास्मि गीतारोगण, हारिणा प्रसभ हृतः।
एप राचेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥

यहा 'एप राजेव दुष्यन्त.' इस वाक्य के द्वारा दुष्यन्त का प्रवेश कराया गया है।

प्ररोचना—पूर्वरङ्ग मे प्रस्तुत प्रवन्धार्थ की आनन्द आदि के जनक रूप में प्रशंसा करके समाजिकों को उसकी ओर श्रवण एवं अवलोकन के लिए उन्मुख करना 'प्ररोचना' है[2]। यथा रत्नावली मे—

"श्रीहर्ष निपुण कवि हैं। यह परिषद भी गुणों को ग्रहण करनेवाली है। इस रूपक में अतीव मनोहर वत्सराज के चरित का वर्णन है। हम लोग भी नाट्यकला मे दक्ष हैं। एक वस्तु से भी वाञ्छित फल की प्राप्ति हो जाती हैं। यहाँ तो मेरे भाग्य का उदय होने से समस्त गुणों का समूह इकट्ठा हुआ है।"[3] यहाँ 'रत्नावली' नायिका की प्रशंसा करके प्रेक्षकगण को उसकी ओर उन्मुख कराया गया है। अतएव यहाँ प्ररोचना है।

तेरह वीथ्यङ्ग भी वक्रोक्ति रूप होने से, वाग्व्यापार रूप भारतीवृत्ति में रहते हैं। अतएव इसी स्थल पर इनका भी निरूपण कर देना श्रेयस्कर है।

---

१. वेणीसंहार, प्रथम अङ्क, ७

२. पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या, सम्यौन्मुख्यं प्ररोचना। (नाट्यदर्पण, पृ० १३८)

३. रत्नावली, प्रथम अङ्क, ५

वीथ्यङ्ग की संख्या के विषय में सभी विद्वान एकमत हैं। ये वीथ्यङ्ग तेरह हैं— व्याहार, अधिबल, गण्ड, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, असत्प्रलाप, वाक्केलि नालिका, मृदव, उद्घात्यक, अवलगित और अवस्पन्दित।

व्याहार वीथ्यङ्ग में हास्य के लेश से युक्त वाणी का प्रयोग होता है जिसका प्रयोजन कुछ अन्य होता है अथवा वह भी भावी विषय को सूचित करती है[१]। यथा 'रत्नावली' में निम्न उक्ति—

"मैं खिल रही कलियोंवाली, पीले रंगवाली एवं विकास को प्राप्त करती हुई इस उपवन लता को देख रहा हूँ जो पवन-वेग के कारण अपनी विशालता को सूचित कर रही है एवं मदन नामक पौधे से आवृत है। इस उपवन को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मैं वासना से उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई एवं जँभाई लेती हुई अन्य स्त्री को देख रहा हूं जो निरन्तर निःश्वासों के द्वारा अपनी व्यथा को कह रही है। इस लता का निरीक्षण कर देवी के मुख को क्रोध से रक्त कर दूंगा।"[२]। उपर्युक्त पंक्तियों में राजा उदयन और वासवदत्ता के भावी मिलन की सूचना दी गई है, अतएव यहाँ 'व्याहार' वीथ्यङ्ग है।

अधिबल में पात्र परस्पर उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा अपने पक्ष की बलपूर्वक स्थापना करते हैं। यह नाट्यदर्पणकार[३] का मत है। धनञ्जय के अनुसार जहाँ पात्र एक-दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते समय स्पर्धा से अपने आधिक्य की उक्ति कहें, वहाँ 'अधिबल' होता है।[४] सूक्ष्म रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं है। धनञ्जय के लक्षण का अन्तर्भाव पूर्वोक्त लक्षण में ही हो जाता है।

गण्ड वीथ्यङ्ग में अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त वचन प्रस्तुत से सम्बन्धित हो जाता है[५]। यथा 'उत्तररामचरित' में सीता को देखकर राम की निम्न उक्ति—

"यह सीता घर की लक्ष्मी है, मेरे नयनों के लिए अमृत की शलाका है। इसका स्पर्श चन्दन-लेप के समान अङ्गों को शीतल लगता है। कण्ठ

---

१. अन्यार्था भाविदृष्टिर्वा, व्याहारो हास्यलेशगी.।(नाट्यदर्पण, पृ० ११७)

२. रत्नावली, द्वितीय अङ्क, ४

३. मिथो जल्पे स्वपक्षस्य, स्थापनाऽधिबलं बलात्।(नाट्यदर्पण, पृ० ११९)

४. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, १७

५. नाट्यदर्पण, पृ० १२१

मे सीता की यह भुजा शीतल तथा मसृण मोती की माला के समान लगती है। सीता की कौन-सी वस्तु प्रिय नहीं है, केवल इसका विरह ही असह्य है[1]।"

प्रतिहारी—उपस्थित है।

राम—अरे! कौन?

प्रतिहारी—दुर्मुख।

यहा प्रतिहारी का 'उपस्थित है' यह वचन अन्य अभिप्राय से कहा गया था, परन्तु राम के 'केवल इसका विरह ही असह्य है' इस प्रस्तुत वचन से सयुज्यमान होने के कारण 'गण्ड' है।

प्रपञ्च वीथ्यङ्ग मे पात्र मिथ्या हास एव स्तुति करते हैं जिसमें एक लाभान्वित होता है[2]। दशरूपककार[3] के अनुसार 'प्रपञ्च' वह वीथ्यङ्ग है जिसमें पात्र आपस मे एक दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशसा करते हैं जो हास्य उत्पन्न करने वाली होती है। कुछ विद्वान बिना एक के लाभान्वित हुए ही मिथ्या स्तुति एवं हास्य युक्त वाक्य को प्रपञ्च मानते हैं। विचार किया जाय तो उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं मे कोई विशेष भेद नही है। सभी विद्वान इतना मानते हैं कि इस वीथ्यङ्ग में सभी पात्र परस्पर मिथ्या हास एवं प्रशंसा करते हैं। रही लाभान्वित होनेवाली बात, तो इसके बिना प्रपञ्च के लक्षण में कोई दोष नही आता। यदि पात्र परस्पर हास एवं स्तुति करते हैं तो वहाँ प्रपञ्च होगा। पात्रों का लाभान्वित होना कोई आवश्यक नही है।

शब्द की समानता से प्रस्तुत अर्थ से भिन्न अर्थ की योजना ही त्रिगत है। अथवा त्रिगत नामक वीथ्यङ्ग में प्रश्न के रूप में प्रयुक्त शब्द के, श्रुति के साम्य से उत्तर रूप में, भिन्न अर्थ की योजना होती है। यथा 'विक्रमोर्वशी' के निम्न श्लोक में—

"सर्वक्षितिभृता नाथ! दृष्टा सर्वाङ्ग सुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् त्वया विरहिता मया[4]।। अन्वय करने से इसी श्लोक में प्रश्न और उत्तर दोनों हैं।

प्रश्न रूप में श्लोकान्वय—सर्वक्षितिभृतां नाथ! अस्मिन् रम्ये वनान्ते मया विरहिता सर्वाङ्ग सुन्दरी त्वया दृष्टा? उत्तर में श्लोकान्वय के समय

---

१. उत्तररामचरित १–३८
२. नाट्यदर्पण, पृ० १२३
३ दशरूपक, तृतीय प्रकाश, १५
४. विक्रमोर्वशी, च० अ०, ५१

'त्वया' के स्थान पर 'मया' का अन्वय और 'मया' के स्थान पर 'त्वया' का अन्वय पाठ करने से उत्तर हो जाता है।

उत्तररूप में श्लोकान्वय--सर्वक्षितिभृतां नाथ ! अस्मिन् रम्ये वनान्ते त्वया विरहिता सर्वाङ्गसुन्दरी मया दृष्टा।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक में श्रुति-साम्य के कारण उत्तर रूप में भिन्न अर्थ की योजना हुई है। अतएव यहा 'निगत' है।

अव्यक्त ध्वनिमात्र के साम्य से अनेकार्थ की योजना का उदाहरण हमें 'इन्दुलेखा' के निम्न श्लोक में प्राप्य है--

"किं नु कलहंसनादो, मधुर मधुपायिना झङ्कारः ?
हृदयगृहदेवतायास्तस्या तु सनूपुरश्चरण इति ॥"

(राजा किसी अव्यक्त ध्वनि को सुनकर कहता है कि हे वयस्य ! क्या यह हंसों का कलनाद है ? अथवा भौरों की मधुर झङ्कार है ? उत्तर में वह राजा से कहता है कि हृदयमन्दिर के उस देवता (नायिका) के सनूपुर चरण हैं अर्थात उसके चरण के नूपुर की झंकार है।) ऐसे अप्रस्तुत अर्थ की जोजना ध्वनि-साम्य के ही कारण हुई है क्योंकि हंसों के नाद, भौरों की झङ्कार और नूपुर-ध्वनि में साम्य है। अतएव अनेकार्थ की योजना के कारण यहाँ 'निगत' है।

जहाँ अन्य प्रयोजन से प्रयुक्त वचन अन्य के हास्य, वञ्चना और रोष का कारण होता है, वहाँ छल वीथ्यङ्ग की प्राप्ति होती है[1]। यथा--

"अपनी प्रेयसी के अधर पर कटने के चिह्न को देखकर भला कौन प्रेमी ऐसा है जो रुष्ट न होगा। तुम्हें कितनी बार मना किया कि ऐसे कमल को न सूँघो जिसमे भौंरा बैठा हो, किन्तु तुमने बात न मानी। अब अपने कर्मों का फल भोगो[2]।" यह वचन किसी नायिका की सखी द्वारा भर्तृ-प्रत्यायन के प्रयोजन से कहा गया है कि इसने कहीं सम्भोग नही कराया है अपितु भौंरे ने काट लिया है। परन्तु यही वाक्य विदग्धजनो मे हास्य, स्वसुर आदि के लिए वञ्चना एवं सौत के लिए डाह उत्पन्न करता है। अतएव यहां 'छल' है।

---

१. वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोष-कारणम्। (नाट्यदर्पण; पृ० १२६)

२. कस्य व न होइ रोसो, दट्ठूण पियाए सव्वणं अहरं।
सव्भमल (भमर) पउमग्घाइरि, वारियवामे ! सहसु इण्हिं।
(ध्वन्यालोक ३-१ में उद्धृत)

धनञ्जय आदि विद्वानों के अनुसार जहाँ असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप की प्राप्ति होती है,[1] वहाँ असत्प्रलाप वीथ्यङ्ग होता है। यथा—

"बालक कार्तिकेय लीला के कारण पिता शिव के गले मे लटकते हुए वासुकि के मुख को अधर पर से फाड देते हैं। उसके बाद वे विषयुक्त तथा विचित्र दाँतो को अंगुली से स्पर्श करके गिनते हैं—एक, तीन, नौ, सात, आठ, छः। इस तरह कार्तिकेय की गणना मे संख्या का क्रम नही प्राप्त होता है। क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की संख्या व्यतिक्रमयुक्त वचन से तुतलाती हुई वाणी आप लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि करे।[2]" यहाँ कार्तिकेय की संख्या की गणना मे व्यतिक्रमयुक्त वचन है, अतः यहाँ 'असत्प्रलाप' है।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार इस वीथ्यङ्ग में कोई पात्र—जिसके वचन परमार्थतः हितकारी होते हैं—किसी अन्य पात्र से वार्तालाप करता है परन्तु दूसरा अपने अविवेक एवं मूर्खता के कारण उस वचन को नही समझ पाता है। विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि धनञ्जय की परिभाषा अधिक स्पष्ट है। 'असत्प्रलाप' का शाब्दिक अर्थ है—असम्बद्ध उक्ति अथवा प्रलाप। ऊटपटाँग बातचीत करने को असत्प्रलाप कहते हैं। इसलिए धनञ्जय की ही परिभाषा अधिक तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त है।

वाक्केली में एक प्रश्न अथवा अनेक प्रश्न किए जाते हैं और एक ही उत्तर अपने भिन्न-भिन्न आशय से सब प्रश्नों का समाधान कर देता है। समस्त प्रश्नो का उत्तर एक ही होता है[3]। इसमे हास्ययुक्त छेकोक्ति प्रत्युक्ति का भी प्रयोग होता है। यथा—

राधा जी के यह कहने पर कि द्वार पर कौन है? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि मैं हरि हूँ। इस पर राधा जी हरि का अर्थ कपि लेते हुए कहती हैं कि उपवन मे जाकर वास करो। तुम्हारा यहाँ क्या प्रयोजन? पुनः श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं कृष्ण हूँ। इस पर राधाजी ने कृष्ण का अर्थ लंगूर लेते हुए कहा—लंगूर से तो मैं और भी डरती हूं'[4]। इस प्रकार, राधा और कृष्ण की उपर्युक्त हास्य-

---

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, २०

२. अचिप्यन्ति विदार्य कुहराण्यासवरतो वासुकेरङ्गुल्या विषकर्तुं गन्गणतः
संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्। एकं त्रीणि नवाष्ट सप्तषडिति व्यालुप्तसंख्याक्रमा.
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः॥
(दशरूपकावलोके प्र० ३उद्धृतम्)

३. प्रश्नोत्तरं तु वाक्केली हास्या वाक् प्रतिवागपि।(नाट्यदर्पण, पृ० १२८)

४. कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगास्यात्र किं?
कृष्णोऽहं दयिते! बिभेमि सुतरां कृष्णात् पुनर्वानरात्॥
(शृङ्गारप्रकाशे १२ उ०)

युक्त छेकोक्ति-प्रत्युक्ति 'वाक्केली' है। दशरूपककार आदि कुछ अन्य विद्वानों ने जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पायी जाय तथा उसके भाव को गम्य रखा जाय अथवा जहाँ दो या तीन बार उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग किया जाय, वहाँ 'वाक्केली' वीथ्यङ्ग माना है[१]। यथा 'उत्तररामचरित' मे—

"तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, तुम दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्र के लिए चन्द्रिका हो, तुम मेरे अङ्गो के लिए अमृत हो। इस प्रकार के सैकडो वाक्यो से मुग्ध सीता को भुलावे मे डालकर हाय तुमने उसी को अथवा शान्त हो—इसके आगे कहना व्यर्थ है[२]।" 'तुमने सीता को यातनाएं दी'—यह भाव यहाँ गम्य रखा गया है, अतएव यहाँ 'वाक्केली' है।

'वाक्केली' की उपर्युक्त दोनो परिभाषाओ मे (जैसा कि 'वाक्केली' का अर्थ है—वचनो की क्रीडा—इसके अनुसार) नाट्यदर्पणकार की ही परिभाषा अधिक सगत है।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार दूसरो की वञ्चना करनेवाला एव निगूढार्थ होने के कारण हास्यनिमित्तक उत्तर **नालिका** है[३]। धनञ्जय के अनुसार हास्य से युक्त छिपे अर्थवाली पहेली भरी उक्ति को 'नालिका' कहते हैं[४]। किन्तु इन दोनों परिभाषाओ मे कोई विशेष भेद नही है। दोनो ही परिभाषाओ में कोई विशप भेद नही है। दोनो ही परिभाषाओ के अनुसार 'नालिका' मे अर्थ अत्यन्त गूढ रहता है एव उक्ति हास्ययुक्त हुआ करती है। 'नालिका' का उदाहरण 'विशाखदत्त' के 'मुद्राराक्षस' से दिया जा सकता है जहाँ चर कहता है कि बताओ चन्द्र किसे नहीं अच्छा लगता? यहाँ 'चन्द्र' का गूढार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) है, अत यहाँ 'नालिका' वीथ्यङ्ग है।

जिस उत्तर से गुण को दोप और दोप को गुण सिद्ध कर दिया जाता है, वह उत्तर **मृदव** कहलाता है[५]। यथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल[६]' मे विदूषक ने निम्न उक्ति मे मृगया—जो कि दोप है—को गुण बताया है। "लोग मृगया को व्यर्थ ही व्यसन बताते हैं। इससे देह की चर्बी कम होती है, पेट पतला

१. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, १७
२ उत्तररामचरित, अङ्क ३, २६
३. नाट्यदर्पण, पृ० १२९
४ दशरूपक, तृतीय प्रकाश, १९
५ नाट्यदर्पण, पृ० १२९
६ अभिज्ञानशाकुन्तल, द्वितीय अङ्क, ५

हो जाता है एवं शरीर उठने बैठने के योग्य हो जाता है। मृगया खेलने से जंगली जानवरों के चित्त व आकृति में भय तथा क्रोध के समय क्या-क्या विकार होते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें चञ्चल लक्ष्य को विद्ध करना पड़ता। यह धनुर्धारियों की बहुत बड़ी विशेषता है।

प्रच्छक और प्रतिवक्ता द्वारा परस्पर किया गया उक्ति-प्रत्युक्तात्मक गूढ भाषण कोड द्वात्यक कहते हैं[1]। यथा 'पाण्डवानन्द' में सूत्रधार और परिस्पार्श्विक की निम्न उक्ति—

'सबसे अधिक प्रशसनीय वस्तु क्या है? गुणियों की क्षमा। तिरस्कार किसे कहते हैं? वह तिरस्कार जो अपने बन्धुओं द्वारा किया गया हो। दुःख क्या है? दूसरों के आश्रय में रहना दुःख है। जगत में प्रशंसा के योग्य कौन है? जिसका आश्रय लिया जाता है। मृत्यु किसे कहते हैं? व्यसन को। शोक का त्याग कौन कर सकता है? जिन्होंने अपने वैरियों पर विजय प्राप्त कर ली है। ये सारी बातें किसने जान ली? विराटनगर में अज्ञात रूप में छिपकर पाण्डवों ने।"

जहाँ विवक्षित प्रयोजन का, अन्य कार्य के करने के व्याज से, सम्पादन होता है वहाँ अवलगित वीथ्यङ्ग होता है[2]। यथा 'उत्तररामचरित' में दोहद कार्य के व्याज से सीता का जनापवाद के कारण अरण्य में त्याग। दशरूपककार[3] धनञ्जय ने दो प्रकार का 'अवलगित' माना है। एक ही क्रिया के द्वारा एक काय के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि प्रथम प्रकार का अवलगित है। इस परिभाषा का उदाहरण वही है जिसे नाट्यदर्पणकार ने प्रस्तुत किया है। एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो, यह दूसरे प्रकार का अवलगित है। तथा छलितराम' नाटक में राम इसलिए पैदल जाना चाहते हैं कि पिता से वियुक्त अयोध्या में विमान से प्रवेश करना ठीक नहीं है। यहाँ इस प्रस्तुत वस्तु के होते हुए उन्हें आगे चलकर भरत के दर्शन की सिद्धि हो जाती है।

साधारण वर्णन के अभिप्राय से कहे हुए का अन्य प्रकार से कथन करना अपस्पन्दित कहलाता है[4]। यथा वेणीसंहार' के प्रथम अङ्क में सूत्रधार की निम्न उक्ति—"सुन्दर पक्षसम्पन्न, मधुरालापी तथा हर्ष के कारण शीघ्रगामी

१ नाट्यदर्पण, पृ० १३१

२ सच्चवलगित सिद्धि कार्यस्यान्यमिषेण वा (नाट्यदर्पण, पृ० १३२)

३. दशरूपक, तृतीय प्रकाश, १४, १५

४.

राजहंस दिशाओ को शोभित कर रहे हैं एव समय पाकर भूतल पर उतर रहे हैं।

अथवा

अच्छे अच्छे प्रभावशाली राजाओ की सहायता से सम्पन्न, वाणीमात्र से मधुर-भाषी, सम्पूर्ण दिशाओ पर प्रभुत्व स्थापित करनेवाले, पागल की भाँति कार्य करने वाले धृतराष्ट्र पुत्र मृत्यु के वशीभूत पृथ्वी पर गिर रहे है[1]।

उपर्युक्त स्थल में सूत्रधार के द्वारा पढे गए श्लोक मे 'धार्तराष्ट्र' शब्द का अर्थ पारिपार्श्विक ने कौरवपुत्र के लिए समझकर सूत्रधार से कहा—ऐसा मत कहो, अमगल का नाश हो। तब सूत्रधार ने कहा कि मैंने 'धार्तराष्ट्र' शब्द का प्रयोग राजहस के लिए कहा है। इस प्रकार यहाँ *अन्यार्थ कथन* होने से *अवस्पन्दित वीथ्यङ्ग* की प्राप्ति हुई है।

सात्वती वृत्ति

'सात्वती' शब्द की उत्पत्ति 'सत्व' से हुई है। सत्व का तात्पर्य मनस् से हो सकता है अथवा सत्वगुण से[2]। इस वृत्ति में मनश्चेष्टा अथवा सात्विकाभिनय की प्रधानता रहती है। फिर भी इसमें वागभिनय एव अङ्गाभिनय का भी समावेश रहता है। सत्वशाली पुरुषो के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण यह वृत्ति 'सत्वती'नाम से प्रसिद्ध है। भरत के अनुसार इस वृत्ति मे सत्वगुण की प्रधानता रहती है। इसमे न्याय समन्वित वृत्त का वर्णन रहता है। इस वृत्ति मे हर्ष का प्राधान्य एव शोक का मर्वथा अभाव पाया जाता है[3]। भरत ने इस वृत्ति को वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस के लिए उपयुक्त माना है। इनका यह मत सगत ही है क्योकि इसमें न्याय-समन्वित युद्ध का वर्णन किया जाता है। इसमे उद्धत पुरुषो का ही प्रयोग किया जाता है[4]।

नाट्यदर्पणकार ने इसमें आर्जव (कुटिलता का अभाव), आघर्ष (तिर-

---

१ सत्पक्षा मधुरगिर प्रसाधिताशामदोद्धतारम्भा।
निपतन्ति धार्तराष्ट्रा कालवशान्मेदिनी पृष्ठे॥ (वेणीसहार, प्र० अ०, ६)

२. सत् सत्व प्रकाशस्तद् यत्रास्ति तत् सत्वमनस्तत्र भवा सात्वती संज्ञा शब्दत्वेन बाहुलकात् स्त्रीत्वम्। (नाट्यदर्पण पृ० १३९)

३ या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता, न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा सहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
(नाट्यशास्त्र, अ० २२-३८)

४ नाट्यशास्त्र, अ० २२-४०

स्कार), हर्ष एव धैर्य आदि भावो की स्थिति मानी है[1]। इस वृत्ति के कई अङ्ग हैं। पुनश्च इसमे पात्रो मे गम्भीर उक्ति पायी जाती है। यथा 'महावीर-चरित' मे राम व परशुराम की निम्न उक्ति–प्रत्युक्ति—

"राम—सपरिवार स्वामी कार्तिकेय के विजय से प्रभावित होकर भगवान महादेव ने प्रसाद रूप मे जो आपको परशु दिया, यह वही परशु है।

परशुराम—यह आचार्य का ही प्रिय परशु है।

शस्त्र प्रयोग की क्रीडा मे सैन्य युवन कुमार मेरे द्वारा जीत लिए गए थे। इससे प्रसन्न होकर और मेरा आलिङ्गन कर शकर द्वारा यह परशु प्रदान किया गया"[2]। धनञ्जय ने इस प्रकार के अङ्ग को 'सलापक' की सज्ञा प्रदान की है।

जहाँ किसी कार्य को प्रारम्भ किया जाय किन्तु उस कार्य का परित्याग कर दूसरे कार्य को सम्पादित किया जाय,वहाँ सात्वती वृत्ति का दूसरा अङ्ग होता है। इस अङ्ग को 'परिवर्तक' नाम से अभिहित किया जाता है। यथा 'महावीरचरित' मे राम की वीरता को देखने के अनन्तर आश्चर्यचकित परशुराम उन्हें गले लगाना चाहते हैं।

जहाँ एक पात्र किसी दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्साहित करे वहाँ सात्वती वृत्ति का तृतीय अङ्ग होता है। इसे 'उत्थापक' कहा जाता है। यथा 'महावीरचरित मे वालि की निम्न उक्ति—

"तुम मुझे आनन्द या विस्मय या दु ख के लिए दिखाई दे रहे हो, मैं कहने मे असमर्थ हू। तुम्हारा दर्शन पाने पर मेरी आँखो को तृप्ति कैसे हो सकती है? तुम्हारे साथ मेरा समागम असम्भव है। अधिक कहने की कोई आवश्यकता नही। जामदग्न्य के विजय से प्रसिद्ध तुम्हारे हाथ मे धनुष जम्भायमाण हो।" उपर्युक्त पक्तियो मे वालि ने राम को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया है। अतएव यहाँ सात्वती वृत्ति का तृतीय अङ्ग है।

इस वृत्ति मे कही-कहीं सामादि का प्रयोग या दैव आदि शक्ति से शत्रुओं का भेदन किया जाता है। यथा 'रामायण' मे रामचन्द्र की दैव शक्ति के कारण ही विभीषण का रावण से भेद हो जाता है। 'सात्वती' के इस अङ्ग को साङ्घात्य' कहा जाता है। इसी प्रकार इस वृत्ति के और भी भेद हो सकते हैं।

कैशिकी वृत्ति

'कैशिकी' शब्द का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से 'केश' से है। अभिनवगुप्त ने भी इसका सम्बन्ध 'केश' से ही बतलाया है। अर्थ क्रिया को न करते हुए भी

---

१. नाट्यदर्पण, पृ १३९

२ महावीरचरित, द्वितीय अङ्क, २४

केश देह की शोभा मे उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार जो व्यापार नाट्य मे सौन्दर्य उत्पन्न करने मे सहायक होता है, उसे 'कैशिकी' वृत्ति कहते हैं। कल्लिनाथ के अनुसार केश अत्यन्त मृदु होते हैं। पुष्पो से युक्त होने पर तो इनकी शोभा द्विगुणित हो जाती है। अत मृदु तथा विचित्र व्यापार से सवलित होने वाली वृत्ति 'कैशिकी' है[१]।

भरत के अनुसार सौकुमार्य युक्त मनोहर अङ्गो को सञ्चालित करते हुए विष्णु भगवान ने सुन्दर केशो को बाँधकर कैशिकी वृत्ति की रचना की[२]। यद्यपि विष्णु और शिव, जो कि क्रमश कैशिकी वृत्ति को उत्पन्न करने वाले एव इसको अभिनीत करने वाले हैं, दोनो ही पुरुष हैं। तथापि अन्य साधारण मर्त्यपुरुष इसको अभिनीत नही कर सकते हैं। अत कैशिकी वृत्ति के अभिनय के लिए ब्रह्मा को मन से चतुर अप्सराओं की रचना करनी पडी क्योंकि मुनिकन्यायें भी इसका अभिनय उचित ढग से नही कर सकती थी। नाट्यदर्पणकार के अनुसार अत्यन्त लम्बे केशो से युक्त होने के कारण स्त्री को 'केशिका' कहा जाता है। उनकी प्रधानता होने पर यह वृत्ति 'कैशिकी' कहलाती है[३]।

उपर्युक्त परिभाषाओ पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कैशिकी वृत्ति मे अभिनय अत्यन्त रञ्जक हुआ करता है। अतएव यह वृत्ति शृगार और हास्य में अत्यन्त उपयोगिनी है। इसमे नृत्त, गीत, काम व्यवहार, विलास आदि की प्रधानता होती है। दशरूपककार ने इस वृत्ति के चार अङ्ग माने हैं—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ[४]। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने केवल 'नर्म' को ही अङ्ग माना है। इनका भी मत सगत है क्योंकि इसके समस्त भेदो मे 'नर्म' का ही प्राधान्य है।

इष्टजन को आवर्जित करने वाला, वाणी वेष तथा चेष्टा आदि के द्वारा किया जानेवाला शिष्ट परिहास 'नर्म' है[५]। अब हम प्रत्येक का उदाहरण

---

१ केशाना समूह कैशिकम्। केशी त्वत् मृदुत्वात् सुमनोभि विचित्रत्वाच्च कैशिकी योगोऽपि द्रष्टव्य। (सगीतरत्नाकर टीका)

२ विचित्रै रङ्गहारैस्तु देवो लीला समन्वितै।
बवन्ध य शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता। (नाट्यशास्त्र अध्याय २२-१३)

३ अतिशायिन केशा सन्त्यासामिति केशिका स्त्रिय 'स्तनकेशवतीत्व हि स्त्रीणाम् लक्षणम्' तत्प्रधानत्वात् तासामिय कैशिकी। (नाट्यदर्पण, पृ० १३९)

४ नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका।
दशरूपक, द्वितीय (प्रकाश, ४८)

५ अग्राम्येष्टजनावर्जन रूपो वाग्, वेष, चेष्टाभि परिहासो नर्म।
(नाट्यदर्पण, पृ० १३९)

देंगे। वाक्नर्म का उदाहरण—"जब पार्वती की सखियों ने परिहासयुक्त उसे आशीर्वाद दिया कि इस चरण से पति के शिर पर स्थित चन्द्रकला का स्पर्श करो तब पार्वती ने उन्हें पुष्प एवं मालाओं से आच्छादित कर दिया[1]।"

वेष नर्म के उदाहरण के लिए हम 'नागानन्द' नाटक के विदूषक तथा शेखरक को ले सकते हैं। चेष्टा नर्म का उदाहरण 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से दिया जा सकता है जहाँ झपकियाँ लेते हुए विदूषक के ऊपर दण्डकाष्ठ को फेंककर निपुणिका सर्प का भय उत्पन्न कर देती है। उपर्युक्त नर्म मान-हास्य, शृङ्गार-हास्य एव भय-हास्य आदि भेद से कई प्रकार का होता है।

आरभटी वृत्ति

आर (चाबुक) के तुल्य भट (उद्धत पुरुष) जिस वृत्ति मे पाए जाते हैं, उसे 'आरभटी' कहते हैं[2]। इस वृत्ति मे अधिकतर असुरों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि वे स्वभावत उद्धत, हिंसक, चञ्चल और असभ्य होते हैं। भरतमुनि के अनुसार दम्भ व अनृत, इन्द्रजाल एव युद्ध आदि का प्रदर्शन उस वृत्ति मे होता है[3]। इस वृत्ति के पात्र उद्धत होते हैं, अतएव दम्भ आदि का प्रयोग सगत ही है।

नाट्यदर्पण के अनुसार इस वृत्ति मे असत्य, अनेक प्रकार के युद्ध, छल, इन्द्रजाल, पुस्त (चित्रकारी), विचित्र नेपथ्य, किलिञ्जहस्तिप्रयोग एव मायावी शिर का प्रदर्शन होता है। साथ ही साथ आक्रमण व अग्नि आदि कृत विद्रव का प्रदर्शन, बाहुयुद्ध व शस्त्र प्रहारादि का प्रयोग भी इस वृत्ति मे किया जाता है। पहली अवस्था का परित्याग कर नायक के दूसरी अवस्था के ग्रहण का प्रदर्शन भी इसी वृत्ति मे होना है[4]।

विचित्र नेपथ्य का प्रयोग 'वेणीसहार' मे किया गया है। 'उदयनचरित' मे किलिञ्जहस्ति का प्रयोग देखने के लिए मिलता है। 'रामाभ्युदय' मे मायावी शिर का प्रयोग किया गया है। 'रत्नावली नाटिका' मे घुडसाल से बन्दरो के छूटने पर अन्त पुर मे भगदड का वर्णन है। "बन्दर को देखकर नपुसक भाग रहे हैं यह उचित ही है क्योंकि उनकी गणना मनुष्यो मे नही है। यह वामन भय के कारण कञ्चुकी के कञ्चुक मे अपने को छिपा रहा

---

१ कुमारसम्भव सप्तम सर्ग, १९

२ नाट्यदर्पण, पृ० १४०

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय २२, ५५—५७

४. नाट्यदर्पण, पृ० १४०

है। कोनों मे छिपकर किरातो ने अपना नाम सार्थक कर दिया है। ये अपने देखे जाने की शङ्का से नीचे होकर मन्द-मन्द चल रहे हैं[1]।

बाली के नेतृत्व को छोडकर सुग्रीव के नेतृत्व को स्वीकार करना एव परशुराम की उद्धतावस्था को छोडकर दूसरी शान्तावस्था का वर्णन नायकान्तर और अवस्थान्तर के ग्रहण के उदाहरण हैं।

यद्यपि सात्वती और आरभटी इन दोनो वृत्तियो मे युद्ध का प्राधान्य है तथापि इनमे परस्पर कुछ भेद भी है। सात्वती न्याय वृत्त से सम्बन्धित रहती है, परन्तु आरभटी वृत्ति मे माया एवं छद्म आदि का प्राधान्य सर्वत्र पाया जाता है। संग्राम का बाहुल्य सात्वती वृत्ति मे भी पाया जाता है परन्तु वह सग्राम न्याय पर आधारित रहता है। इसके विपरीत आरभटी वृत्ति मे न्याय एवं चरित्र पर किञ्चित् भी ध्यान नही दिया जाता है। प्रतिपक्षी का अनिष्ट किसी भी प्रकार हो, यही इस वृत्ति का मूल है।

पुनश्च सात्वती वृत्ति मे हर्ष का प्राधान्य एवं शोक का सर्वथा अभाव पाया जाता है[2]। अतएव यह धीरोदात्त नायक के व्यापार से सम्बन्धित रहती है। इसके विपरीत आरभटी वृत्ति मे उद्धत पात्रो की ही प्रचुरता होती है। यही इन दोनो वृत्तियो मे भेद है।

अभिनय

साक्षात्कारात्मक रूप से अभिनेतव्य अर्थ जिसके द्वारा सामाजिको के पास पहुँचाया जाता है, वह 'अभिनय' कहलाता है[3]। 'अभिनय' मे अभि उपसर्ग एवं नी धातु है। 'अभि' उपसर्ग अभिमुख को एवं 'नी' धातु नीयते को संकेतित करती है। इस अभिनय के चार भेद हैं—वाचिक, आङ्गिक, सात्विक और आहार्य।

वाचिक अभिनय

भारतीय रङ्गमञ्च पर रस और काव्य की दृष्टि प्रधान रही है। अतएव वाचिक अभिनय का सारा विचार इसी आधार पर किया गया है। भरत के अनुसार वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है क्योंकि अभिनय के अन्य अङ्ग

---

१. रत्नावली, द्वितीय अङ्क, ३

२. दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, ५३

३. सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेत्यभिनय.। (नाट्यदर्पण, पृ० १६७)

उसके अर्थ को व्यञ्जित करते हैं[1]। नाट्यदर्पणकार के अनुसार क्रोध, अहंकार, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय, हास, रति, भय, शोक, सुख, दुःख, मोह, लोभ, माया, असूया, शंका, वेपथु, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा एवं वैवर्ण्य आदि भावों का अनतिक्रमण करते हुए वक्ता के भाव के अनुसार उसकी वाणी का अनुकरण वाचिक अभिनय कहलाता है[2]। हमें भावों के अनुरूप ही वाणी का अनुकरण करना चाहिए। इसीलिए कवि लोग 'सक्रोध' 'सावेग' इत्यादि क्रिया विशेषणों का प्रयोग नाटक में किया करते हैं। वाचिक अभिनय में यथाभावानुक्रियाभावों का अनुकरण आवश्यक है। यथोचित भावों का अनुकरण किए बिना जो कथन करता है, वह तो केवल 'अनुवाद' की संज्ञा प्राप्त करता है। इस वाचिक अभिनय से 'भाव' का प्रस्फुटन होता है। वाक् की यह अनुक्रिया अध्यवसाय के ही कारण होती है क्योंकि राम आदि को नट एवं प्रेक्षक आदि ने देखा नहीं है। नट आदि अनुकर्ता राम आदि अनुकार्य को देखे बिना अनुकरण नहीं कर सकते हैं। प्रेक्षक भी बिना राम आदि अनुकार्य को देखे हुए अनुकर्ता के अनुकर्तृत्व को नहीं समझ सकते। अतः नट कविनिबद्ध राम आदि के चरित का भलीभाँति अध्ययन करके एवं अभ्यास के कारण अनुकार्य को दृष्ट मानता हुआ यह अध्यवसाय करता है कि मैं राम का अनुकरण कर रहा हूँ[3]।

सच्ची बात तो यह होती है कि वह लोक व्यवहार का ही अनुकरण करता है। प्रसन्न होते हुए भी नट, जहाँ राम के रोने का प्रसङ्ग आता है, रुदन करता है। इसी प्रकार वह दुःखित होते हुए भी राम के हँसने के प्रसंग पर हँसने लगता है। अत्यन्त मनोहर संगीत का श्रवण करते हुए प्रेक्षक गण भी विभिन्न स्वरूप, देश एवं काल आदि का भेद होते हुए भी चारों अभिनयों से आच्छादित होने से नट में राम का अध्यवसाय करने लगते हैं।

राम की गति, वाणी एवं आकृति आदि का कालदर्शी मुनि लोग निश्चय कर लेते हैं। उसी को कवि नाटक में निबद्ध करते हैं। नट उस नाटक के अध्ययन एवं मुनि के विश्वास के कारण राम आदि को साक्षात् देखता है। नट को यह विश्वास रहता है कि हम साधारण जन भूल कर सकते हैं परन्तु

---

१. वाचियत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनु स्मृता।
अङ्गनैपथ्यसत्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय १४—२)

२. नाट्यदर्पण, पृ० १६७

३. नाट्यदर्पण, पृ० १६७

मुनि आदि नही। ऐसे नट मे सामाजिक राम का अध्यवसाय कर लेता है। प्रेक्षको ने अनुकार्य को देखा हो या न देखा हो किन्तु उनको नट में रामादि के तादात्म्य का निश्चय होता है ही। इसीलिए वह सुख दु खमयी राम आदि की अवस्थाओ मे तन्मय सा हो जाता है। अन्यथा यह राम कृत्रिम है इस प्रकार का ज्ञान होने पर प्रेक्षकगण रामादि के सुख-दु खो मे तन्मयता को नही प्राप्त कर सकते हैं।

नाटकीय प्रयोग मे आने वाली भाषा के चार भेद है—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और योन्यन्तरी भाषा। देवगण 'अतिभाषा' का प्रयोग करते हैं एव राजा लोग 'आर्यभाषा का प्रयोग करते हैं। 'जातिभाषा' म्लेच्छो की भाषा है। ग्राम्य और वन्यपशुओ के लिए योन्यन्तरी भाषा का प्रयोग किया जाता है। पाठ्य की दृष्टि से जातिभाषा के, जिसका प्रयोग चारों वर्णों के लिए होता है, दो भेद हैं—सस्कृत और प्राकृत। उद्धत, ललित, शान्त एव उदात्त कोटि के पात्र सस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। उत्तम कोटि के पात्र भी, जब सकटो से आपन्न रहते हैं, प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। प्राकृत भाषा के भी कई भेद हैं। यथा मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका एव दाक्षिणात्या आदि। शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिड, आन्ध्र और वनचर आदि के लिए भी भाषाएँ नियत हैं। विदूषक एव धूर्त क्रमश प्राच्या और आवन्ती भाषा का प्रयोग करते हैं। नायिका और उसकी सखियाँ शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करती हैं। सैनिक और जुआडी आदि दाक्षिणात्य भाषा का प्रयोग करते हैं। वाह्लीका उत्तर प्रान्त की स्वदेशी भाषा है। 'शकार' को शकारी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। शकों को भी शकारी भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। कोयला बनाने वाले, लकडी एव पत्ता आदि बेचने वाले 'शबर' भाषा का प्रयोग करते हैं। गज, अश्व, ऊँट, बकरी आदि का व्यापार करने वाले 'आभीरी' भाषा का प्रयोग करते हैं। चेट, राजपुत्र एव श्रेष्ठी आदि अर्धमागधी मे वार्तालाप करते हैं।

विन्ध्य और समुद्र के बीच निवास करने वाले मनुष्य नकार से युक्त भाषा का प्रयोग करते हैं। गङ्गा और समुद्र के मध्य निवास करने वाले 'एकार' से युक्त भाषा का प्रयोग करते हैं। सौराष्ट्र तथा अवन्ति देश के निवासियो की भाषा मे 'चकार' का अधिक प्रयोग होता है। हिमालय, सिन्धु, सौवीर तथा अन्य देशो की भाषा मे 'अकार' का प्रयोग होता है। उपर्युक्त प्रकार से ही नाटक मे भाषा का प्रयोग निबन्धनीय है। इनसे नाटकीय सम्भाषण मे यथार्थ की दृष्टि का पता चलता है।

नाट्यदर्पणकार ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटकीय सम्बोधनो की भी विस्तार से चर्चा की है। तपस्वी, अर्च्य एव विद्वान पात्र को 'भगवन्' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए। नृप को 'महाराज' कहना चाहिए। नीच पात्रो द्वारा राजा को 'महिन्' कहा जाता है। राजाकी प्रजा राजाको देव' शब्द से सम्बोधित करती है। राजा विदूषक को 'वयस्य' आदि कहता है। राजपुत्र को 'कुमार' अथवा 'भर्तृदारक' से सम्बोधित किया जाता है। मुनि और शाक्य को 'भदन्त' एव पाशुपत आदि तपस्वी को 'भासर्वज्ञ' कहा जाता है। अधमपात्र के द्वारा मन्त्री आर्य' कहा जाता है। नटी व सूत्रधार परस्पर एक दूसरे को 'आर्य' व 'आर्ये इस तरह सम्बोधित करते हैं। युवावस्था मे पति अपनी पत्नी के द्वारा 'आर्यपुत्र' से व्यवहृत होता है। पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहता है। पारिपार्श्विक जो सूत्रधार की अपेक्षा न्यून गुणो से युक्त रहता है, सूत्रधार के द्वारा 'मार्ष' कहा जाता है। अवस्था और गुणो मे समान पात्र परस्पर 'मित्र' शब्द का प्रयोग करते हैं। नीच पात्र परस्पर 'हहो' शब्द का प्रयोग करते हैं। ब्राह्मण अपनी इच्छा के अनुसार राजा को उसके नाम से भी सम्बोधित कर सकता है। पुनश्च वह मन्त्रियो को 'अमात्य' या 'सचिव' कहता है। शिष्य या पुत्र गुरु अथवा पिता के द्वारा 'पुत्र', 'वत्स', 'तात' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। राजा ऋषि के द्वारा 'राजन्' कहा जाता है।

जो जिस कर्म (वाणिज्य, कृषि, पशुपालन, गीत, नृत्त, वाद्यवादन, राजसेवा आदि एव जाति तथा कुल आदि से सम्बन्धित होता है, उसका उसी कर्म आदि की उपाधि से सकीर्तन होता है। यथा गान्धिक, ताम्बूलिक, कृपीवल, पशुपाल, गोपाल, गान्धर्व, चित्रकार, सेवक, वैद्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि कर्म एव जाति की उपाधि से कहा जाता है[1]।

पत्नी (सधर्मचारिणी), ब्राह्मण की स्त्री, लिङ्गिनी और तपस्विनी को 'आर्ये' कहा जाता है। वृद्धा स्त्री एव जननी को 'आर्ये' और 'अम्बा' भी कहा जाता है। मान्या (ईषद् वृद्धा) स्त्री को 'भवती' और 'आर्ये' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। अपने परिजनो से राजपत्नी 'भट्टिनी', 'स्वामिनी,' 'देवी' शब्दो से सम्बोधित होती है। रत्यार्थ अभिलषित स्त्री को

---

१ येन केनचित् कर्मादिना य कश्चित् प्रसिद्ध , सतेन कर्मादिनोपाधिना शब्द प्रवृत्तिनिमित्तेन सङ्कीर्तनीय । यथा गान्धिक ताम्बूलिक कृपीवल पशुपालो गोपालो गान्धर्वश्चित्रकरः सेवकः वैद्य क्षत्रियो ब्राह्मण इत्यादि ।

(नाट्यदर्पण, पृ० १९०)

प्रथम परिचय मे पुरुष पात्र 'दयिता' एवं 'प्रिया' कहता है। स्त्रियों को कभी कभी उनके पिता या पुत्र के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यथा माठर पुत्रि ! सोमशर्मजननी आदि। वृद्धा वेश्या को 'अत्ता' कहा जाता है। कुल, शील, वय एवं अवस्था आदि मे समान स्त्रियाँ परस्पर 'हला' शब्द का प्रयोग करती हैं। कुलीन स्त्री सेविका को 'हञ्जे' कहती हैं।

उपर्युक्त सम्बोधन के प्रकार भारतीय शिष्टाचार से सम्बन्धित हैं एवं समस्त दृष्टि से पाँच प्रकार के हैं—

(१) पदानुकूल
(२) अवस्थानुकूल
(३) सम्बन्धानुकूल
(४) व्यवसायानुकूल
(५) साधारण व्यवहारानुकूल

नाट्यदर्पणकार[१] ने विभिन्न चरित्रो के नामकरण की समस्या पर भी विचार किया है, जिससे उस समय के विभिन्न वर्गों के नामो पर प्रकाश पडता है। इनके अनुसार नाट्य मे सत्त्व प्रधान पुरुष का नाम विक्रमसूचक होना चाहिए। यथा अरिमर्दन आदि। वणिक् का नाम 'दत्तान्त' होना चाहिए। यथा समुद्रदत्त, सागरदत्त, आदि। ब्राह्मण का नाम गोत्र एवं कर्म के अनुसार होना चाहिए। यथा शाण्डिल्य, गार्ग्य आदि अथवा अग्निहोत्रिय आदि। ब्राह्मणो के नाम शर्मान्त भी हो सकते हैं। यथा अग्निशर्मा, सोमशर्मा आदि। राजपत्नी का नाम शुभसूचक होना चाहिए। यथा सुलक्षणा, विजयवती आदि। वेश्याओ के नाम के अन्त मे 'दत्ता' 'मित्रा' अथवा सेना' शब्द का प्रयोग करना उचित है। यथा देवदत्ता, विदग्धमित्रा एवं वसन्तसेना आदि। चेटी का नाम पुष्प से सम्बन्धित रखना चाहिए। यथा मालिनी, मल्लिका आदि। इसी प्रकार अन्य भी उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों का प्रयोजनानुसार नामाङ्कन करना चाहिए।

आङ्गिक अभिनय

आङ्गिक अभिनय मे अङ्ग एवं उपाङ्ग से अभिनय किया जाता है। अङ्ग (शिर, हस्त, वक्ष, कटि, पार्श्व, पाद,) एवं उपाङ्ग (नेत्र, भ्रू, पक्ष्म, अधर, कपोल, चिबुक)[२] के द्वारा कर्म को साक्षात् भाव से समझाना आङ्गिक

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १९०

२ तत्र शिरो हस्तोर पार्श्वकटीपादत षडगानि।
नेत्र–भ्रू– नासाधर–कपोल–चिबुकान्युपागानि।
(नाट्यशास्त्र, अध्याय ८—१४)

अभिनय है[1]। जिस अभिनय मे अङ्ग प्रयोजन हों, उसे 'आङ्गिक अभिनय की सज्ञा से अभिहित किया जाता है[2]।

उत्तमाङ्ग के तेरह भेद हैं–आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और ललित[3]। शनैः शनैः सिर को ऊपर नीचे करना आकम्पित है। इसका प्रयोग सकेत देने, प्रश्न करने, सामान्य ढग से सम्बोधित करने तथा आज्ञा देने में किया जाता है। कम्पित अवस्था म इसी प्रकार शिर–चालन अपेक्षाकृत अधिक और तीव्र-गति से होता है। इसका प्रयोग क्रोध करने, तर्क करने, समझने एव धमकाने आदि मे किया जाता है। सिर का धीरे-धीरे चालन धुत है जिसका प्रयोग अनिच्छा, खेद, आश्चर्य एव विश्वास आदि में किया जाता है। सिर का शीघ्र-तया चालन विधुत है। इसका प्रयोग शीत, आतक, भय, ज्वर एव पान की प्रथम स्थिति मे किया जाता है। सिर के दोनो ओर के मुडने को परिवाहित कहते हैं। इस चेष्टा का प्रयोग आश्चर्य, उल्लास, स्मरण, असहिष्णुता एव शृङ्गार आदि को अभिनीत करने के लिए किया जाता है। आधूत स्थिति मे सिर एक बार ऊपर की ओर उठता है एव इसका प्रयोग गर्व आदि के प्रदर्शन के लिए किया जाता है। अवधूत स्थिति मे सिर को एक बार नीचे झुकाया जाता है। इस स्थिति के द्वारा सन्देश एवं आवाहन आदि का प्रदर्शन किया जाता है जिसमे सिर गरदन पर एक ओर कुछ झुका रहता है, उसे अचित कहते हैं। इसका प्रयोग व्याधि, मूर्च्छा एव मत्तावस्था को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। सिर की निहंचित स्थिति मे दोनो कन्धे कुछ उठे रहते हैं, गरदन किंचित एक ओर झुकी रहती है एवं साथ ही भौंह भी थोडी सी सिकुड़ जाती है। स्त्री पात्रो के द्वारा गर्व, मान, विलास, बिब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित तथा स्तम्भ आदि के अभिनय मे इसका प्रयोग किया जाता है। मुख घुमा लेने को परावृत्त कहा जाता है। इससे मुखका फेर लेना तथा

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १६८

२ नाट्यदर्पण, पृ० १६८

३ आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेवच।
परिवाहितमाधूतं अवधूतं तथाञ्चितम्॥
निहञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम्।
ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय ८—१८, १९)

पीछे देखना आदि का अभिनय किया जाता है। उत्क्षिप्त सिर में मुख थोडा सा ऊपर उठाया जाता है। इसका प्रयोग उच्च अभिप्राय आदि को अभिनीत करने के लिए किया जाता है। अधोगत स्थिति में सिर नीचे की ओर रहता है। इसके द्वारा लज्जा एवं दुख को व्यक्त किया जाता है। जब सिर का चालन समस्त ओर होता है, तो उसे ललित कहते हैं। इसके द्वारा मूर्च्छा, व्याधि, मद एव निद्रा आदि का अभिनय किया जाता है।[1]

भावो की अभिव्यक्ति मे सबसे अधिक महत्व नेत्र का है। इनके सकोचन तथा प्रस्फुरण से अनेकानेक भाव व्यञ्जित हो जाते हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र[2] मे रस' भाव तथा सचारियो के प्रदर्शन मे प्रयुक्त दृष्टि-चेष्टाओं की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। नाट्यदर्पणकार ने भी उन्ही का अनुकरण किया है। दृष्टि के निम्न छत्तीस भेद हैं—कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्रा, वीरा, बीभत्सा स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, विस्मिता, शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्द्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा।

प्रेमभाव से भौहो को कुचित कर तिरछी दृष्टि से देखना कान्ता दृष्टि-निक्षेप है। अत्यधिक भय को व्यक्त करने वाली दृष्टि भयानका है। इसका प्रयोग भयानक रस मे किया जाता है। हास्या दृष्टि म क्रमश. दोनो पलकें कुचित की जाती हैं एव उनमे विभ्रान्त पुतलियाँ झलकती रहती हैं। करुणा दृष्टिनिक्षेप मे ऊपर की पलकें नीचे झुकी रहती हैं एव अश्रु प्रवाह जारी रहता है। अद्भुता दृष्टि मे बरौनियाँ आकुचित रहा करती हैं, आश्चर्य के कारण पुतलियाँ विस्फारित रहती हैं एव आँखें फैल जाती हैं। रौद्रा दृष्टि मे भौंहे वक्र एव पुतलियाँ निस्तब्ध रहा करती हैं। वीरा दृष्टि मे पुतलियाँ मध्य मे स्थिर रहती हैं। जब पुतलियाँ चक्कर के कारण उद्वेलित रहती हैं, भौहे स्थिर एव परस्पर जुडी रहती हैं, तब उसे बीभत्सा की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। स्निग्धा दृष्टि मे पुतलियाँ स्थिर रहती हैं। हृष्टा नामक दृष्टिनिक्षेप मे दृष्टि चञ्चल रहती है एव पुतलियाँ अर्द्धो-मीलित रहती हैं। दीना दृष्टि मे पुतलियाँ आँसुओ से भरी रहती हैं। यह शोक स्थायी भाव का धीरे-धीरे सचरण करती है। क्रुद्धा दृष्टि मे भौंहें कमान की तरह टेढी हो जाती हैं, पुतलियाँ ऊपर उठी हुई एव विस्तब्ध

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ८, १९-३७।

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ८

रहती हैं। यह दृष्टि क्रोधभाव की व्यञ्जना करने के लिए प्रयुक्त होती है। दृप्ता दृष्टिमें पुतलियाँ स्थिर रहती हैं। भयान्विता नामक दृष्टिनिक्षेप में दोनो पलकें फैल जाती हैं एवं पुतलियाँ चञ्चल हो उठती हैं। इससे भय स्थायीभाव की व्यञ्जना होती है। जुगुप्सिता दृष्टि मे पलकें संकुचित होते हुए भी पूर्णतः बन्द नही होतीं। इससे जुगुप्सा स्थायीभाव की व्यञ्जना होती है। विस्मिता दृष्टि मे पुतलियाँ पूर्णत. ऊपर उठी रहती हैं एवं पलकें स्थिर रहती हैं। इससे विस्मय स्थायीभाव की व्यञ्जना होती है। शून्य की ओर ध्यान देने वाली दृष्टि शून्या कही जाती है। इसमें पुतलिया एवं पलकें समस्थिति में रहा करती हैं। मलिना दृष्टि मे बरौनियाँ स्फुरित होती हैं एवं किनारे के भाग मलीन रहते हैं। श्रान्ता दृष्टि में पुतलिया झुकी रहती हैं, नेत्र तिरछे रहते हैं एवं पलकें गिरी हुई रहती हैं। लज्जान्विता दृष्टि मे लज्जा के कारण ऊपर की पलकें झुक जाती हैं। ग्लाना दृष्टि मे भौहे, पलके तथा बरौनिया ग्लान होती हैं। शंकिता दृष्टि में पुतलियाँ चकित रहती हैं। विषण्णा दृष्टि मे दुःख के कारण पलकें फैलकर अलग हो जाती हैं एवं पुतलिया निस्तब्ध हो जाती हैं। मुकुला दृष्टि मे सुख के कारण पुतलिया उन्मीलित रहती हैं एव ऊपर की पलकें मुकुल पुष्प के समान झुकी हुई रहती हैं। कुंचिता दृष्टि मे पुतलियाँ संकुचित रहा करती हैं। अभितप्ता दृष्टि में पुतलियो का सञ्चार मन्दगति से होता है क्योंकि पलकें परिचालित रहती हैं। यह व्यथा एव सताप को व्यक्त करती है। जिह्मा दृष्टि मे पुतलियाँ छिपी सी रहती हैं एव पलकें नीचे झुकी रहती हैं। ललिता दृष्टि मे भ्रू-सचालन होता है। जब काम-भावना के चिह्नो को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता पड़ती है, तब इस दृष्टि का उपयोग किया जाता है। जब तर्कना के कारण पलकें ऊपर उठी रहती हैं एवं पुतलिया उत्फुल्ल रहती हैं, तब उसे वितर्किता दृष्टि कहते है। अर्धमुकुला दृष्टि मे प्रसन्नता के कारण पलकें अर्धमुकुलित रहती हैं एवं पुतलिया कुछ चञ्चल रहती हैं। जब पुतलियाँ अस्थिर रहती हैं एवं नेत्र विस्तार के कारण उत्फुल्ल प्रतीत होते हैं, तब उसे विभ्रान्ता दृष्टि कहते हैं। जब स्फुरित पलकें कभी झुकती हैं एवं कभी स्तब्ध होती हैं एव पुतलिया चञ्चल होकर ऊपर उठ जाती हैं, तब उसे विप्लुता दृष्टि की संज्ञा प्रदान की जाती है। आकेकरा दृष्टि मे आखें आधी खुली रहती हैं एव आधी झँपी रहती हैं, पलकें एव अपाङ्ग कुछ संकुचित तथा मुकुलित रहते हैं। विकोशा दृष्टि मे पुतलिया चञ्चल रहती हैं एवं दोनो पलकें पूर्णरूप से विस्फारित रहती हैं। त्रस्ता दृष्टि मे

भय से पलकें उपर उठ आती हैं एवं पुतलियों में कम्पन होता रहता है। मदिरा दृष्टि मे ग्राखा के मध्य भाग घूर्णित रहते हैं, अन्तभाग क्लान्त होते हैं, नेत्र नीचे की ओर झुके हुए एव उपाङ्ग विकसित रहते हैं।

भरतमुनि ने नेत्रतारकों की नव स्थितियाँ मानी हैं—भ्रमण, वलन, पातन, चालन, प्रवेशन विवर्तन, समुद्वृत्त, निष्काम और प्राकृत। पलकों के अन्दर तारामण्डल की आवृत्ति भ्रमण है, तिर्यक घूमना वलन है, स्रस्त होना पातन है, कम्पित होना चालन है, अन्दर प्रविष्ट होना प्रवेशन है, कटाक्ष की स्थिति मे होना विवर्तन है, ऊपर उठना समुद्वृत्त है बाहर आना निष्काम है तथा स्वाभाविक स्थिति मे होना प्राकृत है। इन चेष्टाओं का प्रयोग रसों के अनुसार ही करना चाहिए। भ्रमण, वलन, उद्वृत निष्काम का वीर और रौद्र रस में, निष्काम और चालन का भयानक रस मे, प्रवेशन का हास्य और बीभत्स मे, पातन का करुण रस मे, निष्काम का अद्भुत रस में, विवर्तन का शृङ्गार रस में तथा सामान्य स्थितियों मे प्राकृत का प्रयोग किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार अक्षिपुट के भी नव भेद हैं—उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्तित, स्फुरित पिहित और विताडित। अक्षिपुटों का अलग होना उन्मेष है, मिलना निमेष है, फैलना प्रसृत है, सकुचित होना कुंचित है, स्वाभाविक स्थिति मे रहना सम है, ऊपर होना विवर्तित है, स्पन्दित होना स्फुरित है, शिथिल होना पिहित है तथा अकस्मात् आहत होना विताडित है। निमेष, उन्मेष एव विवर्तित का प्रयोग क्रोध की स्थिति मे किया जाता है। प्रसृत का प्रयोग विस्मय, हर्ष एव वीररस मे सगत है। कुंचित का प्रयोग अनिष्ट दर्शन, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट रस तथा अनिष्ट स्पर्श के अभिनयार्थ किया जाता है। समका शृङ्गार मे, स्फुरित का ईर्ष्या मे, पिहित का सोने, मूर्च्छित होने, तूफान, गर्मी, वर्षा, काजल लगाते समय एव आँखो की बीमारी में विताड़ित का अकस्मात् चोट लगने पर प्रयोग किया जाता है।

भ्रू के सात भेद हैं—उत्क्षेप, पातन, भ्रुकुटी, चतुर, कुञ्चित, रेचित और सहज। एक साथ अथवा अलग-अलग भौंहों के उठने को उत्क्षेप कहते हैं। इसका प्रयोग क्रोध, वितर्क हेला एव लीला आदि में, देखने एव सुनने में किया जाता है। जब भौंहे एक साथ अथवा अलग-अलग नीचे आती हैं, तब उसे पातन कहते हैं। इसका प्रयोग असूया, जुगुप्सा, हास तथा सूघने की अवस्था में किया जाता है। जब भौंहे को मूलभाग से

ऊपर उठाया जाता है तब उसे भ्रुकुटी की संज्ञा प्रदान की जाती है। क्रोध की दीप्तावस्था में ही इसका प्रयोग करना सगत है। जब भौहे मधुर भाव से कुछ फैलकर चञ्चल हो जाती हैं, तब उसे चतुर कहते हैं। ललित एवं सौम्य शृङ्गार तथा स्पर्श की स्थिति मे इसका प्रयोग करना चाहिए। एक अथवा दोनो भौहो के मृदुभग को **कुंचित** कहते हैं। मोट्टायित, कुट्टमित, विलास तथा किलकिंचित का अभिनय इसी के द्वारा किया जाना चाहिये। ललित भाव से एक भौंह के उठने को **रेचित** कहते हैं। इसका प्रयोग नृत्य मे किया जाता है। जब भौंहें सहज स्थिति मे रहती हैं तब उन्हे **सहज** कहते हैं। साधारण भावो को व्यक्त करने के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता है।

नासिका के छ भेद हैं—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकुञ्चिता और स्वाभाविका। नासिका की **नता** चेष्टा मे नासापुट निरन्तर स्फुरित रहते हैं। इससे दुःख के निःश्वास का अभिनय किया जाता है। जब नासापुट शान्त रहता है, तब उसे **मन्दा** कहते हैं। इसका प्रयोग निर्वेद, उत्सुकता, चिन्ता तथा शोक आदि मे किया जाता है। **विकृष्टा** चेष्टा मे नासापुट फूले रहते हैं। इसके द्वारा तीव्रगध, रौद्र तथा वीर भाव अभिनीत होता है। जब वायु अन्दर खीची जाती है, तब उसे **सोच्छ्वासा** कहते हैं। यह मधुर गन्ध तथा गहरी साँस लेने मे प्रयुक्त होता है। **विकुञ्चिता** मे दोनो नासापुट सिकुड जाते हैं। इस चेष्टा का प्रयोग जुगुप्सा तथा असूया को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। **स्वाभाविका** चेष्टा मे नासिका अपनी सहज स्थिति मे रहती है और अन्य भाव स्थितियो को व्यक्त करने के लिए इसी का प्रयोग किया जाता है।

गण्ड के भी छ भेद हैं—क्षाम, फुल्ल, विस्तरित, कम्पित, कुञ्चित और सम। **क्षाम** कपोलो से दुःख की अभिव्यञ्जना, **फुल्ल** कपोलो से हर्ष की अभिव्यक्ति, **विस्तरित** कपोलो से उत्साह तथा गर्व की अभिव्यक्ति, **कम्पित** कपोलो से रोष तथा हर्ष की अभिव्यक्ति, **कुंचित** कपोलो से रोमाञ्च, स्पर्श, शीत, भय एवं ज्वर की अभिव्यक्ति एवं **सम** कपोलो से सामान्य अवस्थाओ की अभिव्यक्ति होती है।

चिबुक के सात भेद हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम और दष्ट। दाँतो के सघर्ष से चिबुक की कुट्टन नामक चेष्टा कही गई है जिससे भय, शीत, ज्वर तथा बीमारी की स्थितियाँ व्यक्त होती हैं। बार-बार ओठो के स्पर्श से खण्डन चेष्टा होती है जिससे प्रार्थना, अध्ययन, कथन तथा खाने का अभिनय किया जाता है। दोनों ओठो के गाढ मिलन होने पर चिबुक की

छिन्न चेष्टा होती है जिससे व्याधि, भय, शीत, व्यायाम, रुदन तथा मृत्यु की अभिव्यक्ति होती है। ओठो के दूर स्थित रहने पर चिबुक की चुक्कति चेष्टा कहलाती है और इसका सम्बन्ध जंभाई लेने से है[1]। जीभ से ओठो को चाटने से चिबुक की लेहित चेष्टा होगी जिससे लोभ की अभिव्यक्ति होती है। ओठो के किञ्चित खुले रहने की स्थिति मे सम चिबुक एव अधर के दातो से काटे जाने पर दष्ट चिबुक होता है। इनमे क्रमश लोभ और क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। ग्रीवा के नव भेद है—समा नता उन्नता त्र्यस्रा, रेचित, कुञ्चित, अञ्चित, वलिता और विवृत्ता। जब ग्रीवा अपनी स्वाभाविक स्थिति मे रहती है तब उसे समा कहते हैं। इसका प्रयोग स्वाभाविक स्थिति ध्यान एव जपकर्म मे होता है। मुख नीचे करने की स्थिति मे नता एव ऊपर करने की स्थिति मे उन्नता ग्रीवा होती है। इससे क्रमश नीचे और ऊपर देखन का अभिनय किया जाता है। जब मुख पार्श्व की ओर घुमाया जाता है, तब उस तिरछी ग्रीवा को त्र्यस्रा कहते हैं। इसका प्रयोग कन्धे पर भार ढोने एवं दुख का प्रदर्शन करने के लिये किया जाता है। कम्पित तथा चञ्चल ग्रीवा को रेचित कहते हैं। इसका प्रयोग भाव को व्यक्त करने, मथन तथा नृत्त मे होता है। झुके हुए सिर वाली ग्रीवा को कुञ्चित की सज्ञा प्रदान की गई है। इसका प्रयोग भार ढोने एव गले की रक्षा मे होता है। जब सिर पीछे की ओर झुकता है, तब उस अञ्चित ग्रीवा कहते हैं। इसका प्रयोग बाल सँवारने, बहुत ऊपर देखने आदि मे किया जाता है। वलिता ग्रीवा मे मुख पार्श्व की ओर घूमा हुआ रहता है। इससे गर्दन मोडकर देखन का अभिनय किया जाता है। किसी की ओर अभिमुख होने मे विवृत्ता ग्रीवा होती है। इससे अपने स्थान आदि की ओर अभिमुख होने का अभिनय किया जाता है।

हाथ के पताका, त्रिपताका, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अरालहस्त, शुकतुण्ड, मुष्टि हस्त शिखर, कपित्थ, खटकामुख सूचीमुख, पद्मकोश, सर्पशिरा, मृगशीर्षक, अलपल्लव, चतुर, भ्रमर, हसवक्त्र, हसपक्ष, सदेश, ऊर्णनाभ एव ताम्रचूड आदि कई भेद होते है। जब अँगुलियाँ फैली हुई एव मिली हुई होती हैं और अँगूठा झुका हुआ होता है, तब उसे पताका कहते हैं। जब प्रहार करने, अत्यधिक गर्मी, आनन्दित होने तथा अभिमान करने का अभिनय करना होता है तब पताका हस्त को मस्तक की ओर उठाया जाता है। जब अग्नि प्रकोप, वर्षा तथा पुष्प वृष्टि का अभिनय करना होता है, तब

---

१ रघुवश—नाट्यकला, पृ० १२४

पताका हस्त में अंगुलियाँ अलग होकर चलित होती है एवं दोनो हाथ मिल जाते हैं। पताका हस्त मे ही जब अनामिका अंगुली टेढी होती है, तब उसे **त्रिपताका** कहते हैं। इसका प्रयोग आवाहन, अवतरण, विसर्जन, वारण, प्रवेशन, उन्नायन, प्रणाम करने, तुलना करने, विकल्प बताने, मंगल द्रव्य को छूने, मुकुट धारण करने तथा नाक, मुख, कान के मूदने मे किया जाता है। जब छोटे पक्षियो के उडने, पवन, जलस्रोत, भुजग एव भ्रमर आदि का अभिनय करना होता है, तब इसी मुद्रा मे अङ्गुलियाँ अधोमुख कर दी जाती हैं एवं उन्हे ऊपर-नीचे चलाया जाता है। दोनो त्रिपताक हस्तो की स्वस्तिक चेष्टा से पूज्यजनो के चरणो की वन्दना की जाती है। जब त्रिपताक हस्त की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियाँ पीछे की ओर झुकी रहती है, तब उसे **कर्तरीमुख** कहते हैं। मार्ग-प्रदर्शन एव चरणो के अलंकरण आदि का अभिनय इसी हस्त से किया जाता है। पतन, मरण, व्यतिक्रम, परिवृत्ति, वितर्क तथा न्याम के अभिनय मे इस हाथ की अंगुलियो को विपरीत दशा मे घुमाया जाता है। जब हाथ की अंगुलियाँ अंगूठे सहित धनुषाकार होती हैं, तब उसे **अर्धचन्द्र** कहते हैं। इस हस्त से पौधों, चन्द्रलेखा, शंख, कलश, वलय, निर्धाटन, आयास, कटि की उपमा तथा पीनता का प्रदर्शन किया जाता है। **अराल** हस्त में कनिष्ठा अंगुली धनुष के समान, अंगूठा कुंचित तथा अन्य अंगुलियाँ पृथक-पृथक होकर ऊपर की ओर घूमी रहती हैं। इससे सत्व, गर्व, उत्साह, धैर्य एवं गाम्भीर्य का प्रदर्शन किया जाता है। जब अराल हस्त मे अनामिका अंगुली को टेढी कर लिया जाता है, तब उसे **शुकतुण्ड** कहते हैं। इस हस्तमुद्रा से आवाहन, विसर्जन एवं अवज्ञा सहित धिक्कार का अभिनय किया जाता है। जब हाथ की अंगुलियों के अग्रभाग हथेली के अन्दर झुके हो तथा उन पर अंगूठा हो, तब उसे **मुष्टि** हस्त कहते हैं। इससे प्रहार, व्यायाम, संवाहन, तलवार की मूठ तथा भाले की लाठी पकड़ने को अभिनीत किया जाता है। जब मुष्टि हस्त मे अंगूठा ऊपर उठा दिया जाता है, तब उसे **शिखर** की संज्ञा प्रदान की जाती है। इस मुद्रा का प्रयोग लगाम, कुश, अकुश तथा धनुष को धारण करने, तोमर तथा शक्ति के फेंकने, अधर, ओष्ठ एवं चरण के रंगने और केशों को ऊपर की ओर संवारने के अभिनय मे किया जाता है। **कपित्थ** हस्त मे शिखर हस्त की प्रदेशिनी चक्र होकर अंगूठे से दबाई जाती है। इससे तलवार, धनुष, चक्र, तोमर, कुन्त, गदा, शक्ति, वज्र एवं बाण आदि का अभिनय किया जाता है। इसी कपित्थ हाथ की अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियाँ जब ऊपर की ओर उठी तथा झुकी रहती हैं, तब उसे **खटकामुख** कहते हैं। इसमे होत्र, हव्य

छत्र, लगाम का धारण करना, पखा झलना, शीशा धारण करना, पीसना, विस्तृत दण्ड धारण करना, मोतियो की माला बनाना, मन्थन, तूणीर से वाण निकालना, लगाम खींचना एव स्त्रीदर्शन आदि का अभिनय किया जाता है।

जब खटकामुख हस्त की तर्जनी अँगुली भली भाँति प्रसारित होती है, तब उसे **सूचीमुख** कहते हैं। इससे विविध प्रकार के प्रदर्शन किये जाते हैं। इस हस्त मे प्रदेशिनी जब ऊपर उठी चञ्चल स्थिति मे होती है तब चक्र, बिजली, पताका मजरी, कर्णपत्र वक्रता एव मण्डल का अभिनय किया जाता है। पुनश्च जब प्रदेशिनी क्रमश ऊपर उठाई एव नीचे गिरायी जाती है, तब चिन्तन तथा दिवस-गणना का अभिनय किया जाता है।

सयोग के प्रदर्शन के लिए इन हाथो को सयुक्त होना चाहिए। इसी प्रकार वियोग के प्रदर्शन के लिए इन हाथो को वियुक्त होना चाहिए। कलह की अभिव्यक्ति के लिए इन्हें स्वस्तिक स्थिति मे रहना चाहिए। जिस हाथ की अँगूठा सहित समस्त अँगुलियाँ अलग-अलग फैली रहती हैं एव उनके अग्रभाग ऊपर उठकर झुक जाते हैं, उसको **पद्मकोश** हस्त कहते हैं। बिल्व कपित्थ, देवपूजन, पिण्डदान एव पुष्पगुच्छ आदि का अभिनय इसी मुद्रा से किया जाता है। जब हाथ की समस्त अँगुलियाँ अँगूठे सहित परस्पर सयुक्त रहती हैं एव हथेली किंचित गहरी रहती है, तब उसे **सर्पसिंग** हस्त कहते हैं। इससे जल देने, सर्प की गति का निर्देश करने, ताली बजाने एव हस्त के कुम्भ के आस्फालन आदि का अभिनय किया जाता है। इमी मुद्रा में मिली हुई समस्त अँगुलियाँ अधोमुखी हो एव अँगूठा तथा छगुनी ऊर्ध्वस्थित हो तो उसे **मृगशीर्षक** कहते हैं। इससे उल्लासन एव पसीना पोछने आदि का अभिनय किया जाता है। हस्त की **अलपल्लव** मुद्रा मे समस्त अँगुलियाँ हथेली की ओर घूमी एव प्रसारित रहती हैं। इससे मना करने, रोकने, 'कौन हो तुम' आदि कथनो का एव स्त्री जनो का अपने प्रति विस्मय का अभिनय किया जाता है। यदि हाथ की तीनो अँगुलियाँ फैली हो कनिष्ठा उठी हो एवं अँगूठा तीनो अँगुलियों के मध्य मे स्थित हो तो उसे **चतुर** मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग नीति, विनय एव निपुणता का अभिनय करने मे किया जाता है। **भ्रमर** हस्तमुद्रा मे मध्यमा अँगुली तथा अँगूठा के अग्रभाग सयुक्त होते है, प्रदेशिनी वक्र अनामिका और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई एव प्रसारित रहती हैं। इसका प्रयोग लम्बे डण्ठल से युक्त पुष्पो को ग्रहण करने के लिए किया जाता है। जब तर्जनी, मध्यमा तथा अँगूठा

बिना अन्तर के सलग्न रहते है और अनामिका तथा कनिष्ठा अँगुलियाँ फैली रहती हैं, तब इसे **हंसवक्त्र** कहते हैं। इससे कोमलता, निस्सारता एवं लाघव आदि का अभिनय किया जाता है। **हंसपक्ष** हस्त मे तीन अँगुलियाँ फैली रहती हैं, छगुनी उठी हुई रहती है तथा अँगूठा झुका रहता है। इसके द्वारा आलिंगन, स्तम्भ, दर्शन, रोमहर्षण, स्पर्श एव अनुलेपन का अभिनय किया जाता है। दुःख के अवसर पर सान्त्वना देने के लिए तथा मानिनी के अनुनयार्थ इसी हस्त से चिबुक का स्पर्श किया जाता है। पूर्वोक्त अराल-चेष्टा मे जब तर्जनी तथा अँगूठा एक दूसरे को काटते हो और हथेली कुछ गहरी हो जाय, तब उसे **संदेश** हस्त-मुद्रा कहते हैं। जब पुष्प-चयन, माला गूथने, घास, बाल, पत्ती तथा सूत्र के ग्रहण करने एव बाण निकालने का अभिनय करना हो, तब इस हाथ को सामने लाकर प्रदर्शित किया जाता है। डण्ठल से फूल तोडने, दीप की बत्ती बढ़ाने, किसी वस्तु को भरने, धिक्कार के वचन कहने में इस हस्तमुद्रा को मुख के पास लाया जाता है। इसी प्रकार ऐसे दोनो हाथो को मिलाकर यज्ञोपवीत को धारण करने, किसी वस्तु के बेचने, धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने, बाण का सूक्ष्म लक्ष्य लेने, योग, ध्यान तथा अल्पता का अभिनय करना चाहिए। जब हंसवक्त्र हस्त की अँगुलियाँ एक दूसरे के सन्निकट आ जाती हैं और उनके अग्रभाग झुककर एक साथ मिल जाते हैं, तब उसे **मुकुल** हस्त की सज्ञा प्रदान की जाती है। इससे देवपूजन, बलिग्रहण, विट के चुम्बन, घृणाप्रदर्शन एव शीघ्रता करने आदि का अभिनय किया जाता है। जब पद्मकोश हस्त की अँगुलियाँ और सिकुड जाती हैं, तब उसे **ऊर्णनाभ** हस्त कहते हैं। इसके द्वारा केश सँवारने, सिर खुजलाने एव पत्थर के ग्रहण करने का अभिनय किया जाता है। **ताम्रचूड** हस्त मे मध्यमा तथा अँगूठा एक दूसरे को काटते हैं, प्रदेशिनी वक्र रहती है तथा अन्य दो अँगुलियाँ हथेली मे स्थित रहती हैं। इससे विश्वास दिलाने, शीघ्रता करने तथा सकेत करने का अभिनय किया जाता है।

संयुक्तहस्त के बारह भेद हैं—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटकावर्धमानक, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदंत, अवहित्थ एव वर्धमान। **अञ्जलि** मुद्रा में दो पताका हाथ संश्लिष्ट होते हैं। देवताओं को प्रणाम करते समय अञ्जलि सिर पर रहती है, गुरुजनो को प्रणाम करते समय मुख के समक्ष, मित्रो को प्रणाम करते समय वक्ष पर रहती है। स्त्रियो के प्रणाम मे इसकी स्थिति अनिश्चित रहती है। **कपोत** नामक हस्तप्रयोग मे दोनों अजलि हस्तो के पार्श्व संश्लिष्ट रहते हैं। इस हस्त का प्रयोग विनय

प्रदर्शित करने के लिए एवं गुरुजनों से बातचीत करने के लिए किया जाता है। **कर्कट** संयुक्त हस्त मुद्रा में दोनों हस्तों की अंगुलियाँ परस्पर ग्रथित रहती हैं। इससे स्तनमर्दन, सोकर उठने पर जँभाई लेने, अँगड़ाई लेने, ठोढ़ी को धारण करने तथा शंख ग्रहण करने का प्रदर्शन किया जाता है। जब दो अरालहस्त उलटकर कलाइयों पर आबद्ध होते हैं तो उसे **स्वस्तिक** कहते हैं। इसका प्रयोग केवल स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। इससे आकाश, जंगल, सागर, ऋतु, पृथ्वी एवं इसी प्रकार की अन्य विस्तृत वस्तुओं का प्रदर्शन होता है। **खटकावर्धमानक** संयुक्त हस्त में खटकामुख हस्त दूसरे खटकामुख हस्त पर रखा जाता है। इससे प्रेम तथा प्रणाम की क्रियाओं का प्रदर्शन किया जाता है। **निषध** नामक हस्त प्रयोग में बायां हाथ दाहिनी बाह के ऊपरी भुजदण्ड पर बँधी हुई मुट्ठियों के रूप में स्थित रहता है। मद, गर्व, सौष्ठव, औत्सुक्य, पराक्रम, अवहेलना, अहंकार, स्तम्भ एवं स्थिरता आदि का अभिनय इसी के द्वारा किया जाता है। जब दोनों कन्धे शिथिल तथा मुक्त रहते हैं एवं दोनों पताका हस्त नीचे लटके रहते हैं, तब उसे **दोल** की संज्ञा प्रदान की जाती है। इससे सम्भ्रम, विषाद एवं मूर्च्छा आदि का अभिनय किया जाता है। **पुष्पपुट** चेष्टा में सर्पशिरा हस्त की अंगुलियां एक दूसरे से मिली हुई रहती हैं और एक के पार्श्व में दूसरा हाथ जुड़ा हुआ रहता है। इससे फल, पुष्प तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं के लेने तथा अर्पित करने का प्रदर्शन होता है। **मकर** चेष्टा में ऊपर उठे हुए पताका हाथों के अँगूठे नीचे की ओर झुके रहते हैं और एक दूसरे के ऊपर स्थित रहते हैं। इससे कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों का निर्देशन किया जाता है। **गजदंत** हस्त योजना में दो सर्पशिरा हस्त एक दूसरे की कुहनी तथा कन्धों के मध्यभाग का संस्पर्श करते हैं। इसका प्रयोग वर-वधू को ले चलने में, स्तम्भ को ग्रहण करने में एवं पर्वत की शिलाओं को उखाड़ने में किया जाता है। **अवहित्थ** नामक संयुक्त हस्त में शुकतुण्ड वक्ष प्रदेश पर परस्पर मिलते हैं, पुनश्च आबद्ध रूप में शनैः शनैः नीचे झुके रहते हैं। इससे दौर्बल्य, निःश्वास एवं उत्कण्ठा आदि का अभिनय किया जाता है। **वर्धमान** संयुक्त हस्त में मुकुल हस्त कपित्थ हस्त से परिवेष्टित रहता है। इससे संग्रहण, परिग्रहण एवं धारण आदि का प्रदर्शन किया जाता है।

पार्श्वभाग के पाँच भेद हैं—नत, समुन्नत, प्रसरित, विवर्तित और अपसृत। **नत** पार्श्वचेष्टा में कमर कुछ झुकी हुई रहती है, एक पार्श्व, कुछ तिरछा रहता है एवं एक कन्धा कुछ प्रसारित रहता है। इसके द्वारा किसी के समीप

पहुंचने का अभिनय किया जाता है। समुन्नत चेष्टा में (नत चेष्टा में जो पार्श्व झुका रहता है उसका) विपरीत पार्श्व कटि तथा कन्धा ऊपर उठा हुआ रहता है। इससे पीछे हटने का अभिनय किया जाता है। प्रसरित चेष्टा में दोनों पार्श्वों को फैलाया जाता है। इसके द्वारा प्रसन्नता आदि का अभिनय किया जाता है। विवर्तित पार्श्व में त्रिक का परिवर्तन होता है। इसका प्रयोग घूमने आदि क्रियाओं में किया जाता है। अपसृत चेष्टा में पार्श्व विवर्तित चेष्टा से अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाते हैं। इसका प्रयोग वापस आने की क्रिया में किया जाता है।

वक्ष के भी पांच प्रकार हैं—आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम[1]। आभुग्न चेष्टा मे उर नीचा एव पीछे की ओर उन्नत तथा कन्धा कुछ झुका हुआ ढीला रहता है। इससे सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा एव शोक आदि का अभिनय किया जाता है। जब उर स्तब्ध एवं पीछे की ओर झुका हुआ रहता है, कन्धे सम्मुन्नत होते हैं, तब वक्ष की निर्भुग्न चेष्टा होती है। इसके द्वारा स्तम्भ, मान करने, सत्य वचन कहने एवं विस्मयपूर्वक देखने का अभिनय किया जाता है। **प्रकम्पित** चेष्टा में उर निरन्तर ऊर्ध्व उच्छ्वसित रहता है। हँसी; रोने, श्रम, हिक्का एवं दु.ख के अभिनय मे इसका प्रयोग किया जाता है। **उद्वाहित** चेष्टा मे उर ऊँचा उठा हुआ रहता है। इससे दीर्घोच्छ्वास आदि का अभिनय किया जाता है। **सम** चेष्टा मे उर अपनी सहज स्थिति मे रहता है।

उदर के तीन भेद हैं—क्षाम, खल्ल और पूर्ण[2]। **क्षाम** (खाली) पेट का प्रयोग हास्य, रुदन, निःश्वास एव जृम्भा मे किया जाता है। **खल्ल** (धंसा हुआ) उदर का प्रयोग बीमारी, तप.स्थिति, थकावट तथा भूख के प्रदर्शन में किया जाता है। **पूर्ण** (भरा हुआ) उदर से उच्छ्वास लेने, बीमारी एवं अत्यधिक भोजन आदि का अभिनय किया जाता है।

उरु के पांच भेद हैं—कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन और विवर्तन[3]। कम्पन उरु में एड़ियाँ बार-बार उठाई एव गिरायी जाती हैं। इससे निम्नकोटि के पात्रों की गति एवं भय का अभिनय किया जाता है। वलन

---

१. वक्षस आभुग्न-निर्भुग्नादयः पञ्च। (नाट्यदर्पण, पृ० १६८)

२. उदरस्य क्षाम-खल्ल पूर्णलक्षम (दा) णा· त्रयः। (नाट्यदर्पण, पृ० १६८)

३. उर्वो कम्पन-वलनादय. पञ्च। (नाट्यदर्पण पृ० १६८)

उरु में घुटना भीतर को जाता है। इससे स्त्रियों के स्वच्छन्द सचरण का प्रदर्शन किया जाता है। स्तम्भन उरु चेष्ट में क्रिया स्थगित हो जाती है। इसके द्वारा घबराहट एव विषाद का अभिनय किया जाता है। उद्वर्तन उरु चेष्टा में उरुओ की पेशी को ऊपर खीचकर कस लिया जाता है एव पुन उनको सचालित किया जाता है। इसका प्रयोग व्यायाम एव ताण्डवनृत्य में किया जाता है। विवर्तन चेष्टा में एडियो को अन्दर की ओर से मोडा जाता है। इससे सम्भ्रम और चारो ओर घूमने का अभिनय किया जाता है।

कटि के पाँच भेद हैं—छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, प्रकम्पिता और उद्वाहिता[1]। जब कटि बीच से एक ओर घूमती है, तब उसे छिन्ना कहते हैं। इससे व्यायाम, शीघ्रता एव चारो ओर देखने का अभिनय किया जाता है। निवृत्ता चेष्टा में कटि को पीछे की ओर से सामने घुमाया जाता है। इससे भी चारो ओर घूमने का अभिनय किया जाता है। रेचिता चेष्टा मे कटि को सभी ओर घुमाया जाता है। इससे साधारण भ्रमण आदि का प्रदर्शन किया जाता है। प्रकम्पिता चेष्टा में कटि तिर्यक् होकर शीघ्रता से सचालित होती है। इससे निम्न स्तर के लोगो का अभिनय किया जता है। उद्वहन चेष्टा मे नितम्बो के पार्श्वों को शनै शनै उठाया जाता है। इससे स्त्रियो की लीला गति का अभिनय किया जाता है।

जङ्घा के पाँच भेद हैं—आवर्तित, नत, क्षिप्र, उद्वाहित और परिवृत्त[2]। आवर्तित चेष्टा मे बायाँ चरण दाहिने पार्श्व से और दाहिना चरण बायें पार्श्व से घूमता है। इससे विदूषक की चाल को प्रदर्शित किया जाता है। नत चेष्टा मे घुटनों को सिकोडा जाता है। इससे स्थान तथा आसन ग्रहण करने का अभिनय किया जाता है। जब जाँघो को फैला दिया जाता है, तब उसे क्षिप्र कहते हैं। इसका प्रयोग व्यायाम तथा ताण्डवनृत्य में किया जाता है। उद्वाहित चेष्टा में जाँघ को ऊपर उठाया जाता है। इससे वक्र गति का अभिनय किया जाता है। परिवृत्त नामक जंघ चेष्टा में जाँघ उलट कर घुमाई जाती है और इसका प्रयोग ताण्डवनृत्य आदि में किया जाता है।

पादों के भी पाच भेद होते हैं—उद्घटित, सम, अग्रतलसञ्चर, अञ्चित और कुञ्चित। उद्घटित चेष्टा में पैरो के तल भाग पर खडे होकर एव एडी को नीचे गिरा कर भूमि का स्पर्श किया जाता है। इसके द्वारा द्रुत तथा मध्य

१ कट्याश्छिन्नानिवृत्ताद्य पञ्च। (नाट्यदर्पण, पृ० १६८)

२ जङ्घयोरावर्तित नताद्य पञ्च। (नाट्यदर्पण, पृ० १६८)

गति का प्रदर्शन किया जाता है। सम चेष्टा मे पैरों को समभूमि पर स्थापित किया जाता है। इसका प्रयोग रेचित स्थिति मे किया जाता है। जब एड़ी उठी हो, अँगूठा फैला हो और समस्त अंगुलियाँ अञ्चित हो, तब उसे अग्रतलसञ्चर कहते हैं। इसका प्रयोग स्थिर रहने, ठोकर मारने एवं पञ्जो के बल चलने मे किया जाता है। अञ्चित चरण मे एड़ी भूमि पर स्थित रहती है, पञ्जा उठा हुआ रहता है और समस्त अंगुलियाँ अञ्चित रहती हैं। इससे पैर मे चोट लगने आदि का अभिनय किया जाता है। कुंचित चरण मे एड़ियाँ ऊपर उठी रहती हैं, अंगुलियाँ तिरछी झुकी रहती हैं एव उसका मध्यभाग भी झुका रहता है। इसका प्रयोग उदात्त गमन मे, दाहिने से बायें घूमने मे एव बायें से दाहिने घूमने मे किया जाता है।

इसी प्रकार भौमिचारी, आकाशीयचारी एवं बत्तीस अङ्गहार भी आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत आते हैं। एक पैर से चलने को चारी कहते हैं[1]। भरत मुनि ने सोलह प्रकार की भौमिचारियो के नाम गिनाकर उनके लक्षण विस्तृत रूप से बतलाये हैं। नाट्यदर्पणकार ने उनके नामो का उल्लेख भर कर दिया है[2]। इन सबको विस्तृत रूप से जानने के लिए नाट्यशास्त्र के दशम अध्याय का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ विस्तार भय से सक्षेप मे उनका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। भौमिचारी के सोलह भेद निम्न हैं—

"समपादा स्थितावर्ता शकटास्या तथैव च।
अध्यर्धिका चापगतिर्विच्यवा च तथा परा॥
एडकाक्रीडिता बद्धा उरुद्वृत्ता तथाकिता।
उत्स्पन्दिताथ जनिता स्यन्दिता चापस्यन्दिता॥
समोत्सारितमतल्ली मतल्ली चेति षोडश।
+ + ॥"[3]

इसी प्रकार आकाशिकी चारियों के निम्न भेद है—

"अतिक्रान्ता ह्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता तथैव च।
ऊर्ध्वजानुश्च सूची च तथा नूपुरपादिका॥
डोलापादा तथाक्षिप्ता आविद्धोद्वृत्तसंज्ञिते।
विद्युद्भ्रान्ता ह्यलाता च भुजगत्रासिता तथा॥

---

१ नाट्यशास्त्र, दशम अध्याय–३

२. नाट्यदर्पण, पृ० १६८

३ नाट्यशास्त्र, दशम अध्याय-८–१०

मृगप्लुता च दण्डा च भ्रमरी चेति षोडश ।
आकाशिक्य स्मृता ह्येता लक्षणं च निबोधत ॥"[1]

इन चारियों का विस्तृत रूप से वर्णन नृत्य के ही प्रसङ्ग मे किया गया है। नाट्य के अन्तर्गत इनका प्रयोग सीमित अर्थ मे ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार गतियाँ भी आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत ही आती हैं। चाल से मनुष्य के स्वभाव का पता चलता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के बारहवें अध्याय मे गतिप्रचार का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसी के आधार पर गतियों का सक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

गति के तीन भेद है—धीरा, मध्यमा और द्रुता। उत्तम पात्रो की गति 'धीरा' होती है, मध्यम पात्रो की मध्यमा एव निम्न कोटि के पात्रो की गति 'द्रुता' होती है। वृद्ध व्याधि से युक्त, क्षुधायुक्त, श्रान्त, थके हुए, दु खित एव अवहित्था से युक्त, शोकयुक्त या श्रृङ्गारयुक्त एव स्वच्छन्द पुरुषो की गति 'मन्थर' होती है। हर्ष, कौतूहल, भय और औत्सुक्य मे 'त्वरिता' गति होती है। प्रच्छन्न कामुक, वैरी एव चोर आदि चुपचाप होकर गमन करते हैं। उनके पैरो से शब्द नही सुनायी पडते हैं। जाडे तथा वर्षा से पीडितों की गति 'कम्पित' होती है। गर्मी से बलात व्यक्ति की पसीना पोछते हुए और छाया की खोज करते हुए गति होती है। प्रहारार्त एव स्थूल व्यक्तियो की अपने शरीर को खींचते हुए एव हाँपने से युक्त और स्थिर सी गति होती है। तपस्वियो की गति नेत्र चाञ्चल्य से रहित होती है। वे सामने थोडी ही दूर तक देखते हैं।

प्रेम की साधारण मन स्थित मे गति ललित होती है। रौद्र रस के अभिनय में दैत्य, राक्षस एव नाग आदि पात्रो के पैर चार ताल की दूरी पर स्थित होते हैं। उनके कदम भी चार ताल चौडे होते हैं। बीभत्स रस मे पैर ऊपर नीचे, कभी निकट एव कभी दूर चलते हैं। वीर-रस मे गति द्रुत होती है। करुण रस मे गति विश्रृखल होती है। भय की अवस्था मे स्त्रियों तथा निम्न कोटि के पात्रो के पैर अत्यन्त शीघ्रता से ऊपर नीचे, कभी निकट एव कभी दूर उठते-गिरते हैं। अन्धा व्यक्ति अथवा अन्धकार मे गमन करने वाला व्यक्ति हाथ से टटोलता हुआ भूमि पर पैरों को घसीटता हुआ सा चलता है। नदी के अन्दर प्रविष्ट होने समय जल की गहराई का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसका अभिनय कम जल होने पर केवल वस्त्रो को ऊपर उठाने से ही किया जाता है।

---

१ नाट्यशास्त्र दशम अध्याय, ११–१३

इसके विपरीत गहरे जल के अभिनय के लिए आगे की ओर थोड़ा सा झुककर हाथों को बाहर फेंका जाता है।

लम्बी दूरी पार करने वाले यात्री की गति मन्द होती है। पागलों की गति अव्यवस्थित होती है। विदूषक इधर-उधर देखते हुए चलता है। शकार चलते समय अपने वस्त्रों तथा आभूषणों का स्पर्श करता है।

उपर्युक्त सभी अभिनय इष्ट, मध्यम तथा अनिष्ट तीन प्रकार का होता है। इष्ट अभिनय का प्रदर्शन मन की प्रसन्नता, शरीर-रोमाञ्च एवं नेत्रों के विकास आदि के द्वारा होता है। मध्यम अभिनय का प्रदर्शन मध्यस्थता के द्वारा किया जाता है। अनिष्ट अभिनय को मुख फेर लेने एवं नेत्र और नाक को सिकोड़ने से प्रदर्शित किया जाता है। इस अभिनय में स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त एवं श्याम चार प्रकार का मुखराग होता है। स्वाभाविक मुखराग स्वाभाविक तथा बीच की भाव-स्थितियों में, प्रसन्न मुखराग अद्भुत, हास्य तथा शृङ्गार की भाव स्थितियों में रक्त मुखराग वीर, रौद्र, मद तथा करुण भाव-स्थितियों में और श्याम मुखराग भयानक तथा बीभत्स में होता है।

समस्त भावों के प्रदर्शन में इन मुखरागों का विशेष महत्त्व है। मुखरागों के समुचित प्रयोग के बिना अभिनय चित्ताकर्षक नहीं हो सकता है। पुनश्च बिना मुखराग के चेष्टाएँ विभिन्न भावों तथा रसों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति नहीं कर सकती हैं। इसीलिए प्रत्येक चेष्टा के साथ भावानुकूल मुखराग का प्रयोग उचित अभिनय के लिए आवश्यक माना गया है।

सात्त्विक अभिनय

एकाग्र मन को 'सत्त्व' कहते हैं। यही सात्त्विक अभिनय का हेतु हुआ करता है[१]। इस अभिनय में स्वरभेद, कम्पन, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा, विवर्णता, अश्रु, निःश्वास, उच्छ्वास, सन्ताप, शैत्य, कृशता, स्थूलता, अवहित्था, फेनमोक्ष, गात्रध्वंसन एवं हिक्का आदि अनुभावों का प्रदर्शन रस तथा उत्तम, मध्यम एवं अधम आदि प्रकृतियों के औचित्य के अनुसार किया जाता है।

मन की स्थिरता न होने पर नट स्वरभेद आदि का प्रदर्शन नहीं कर सकता है। इस लिए इन अनुभावों का प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहा जाता है। इस प्रकार के अभिनय को 'वाचिक' नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह शब्दानुकरण रूप नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार इसे 'आङ्गिक' भी नहीं

---

१ अवहितं मनः सत्त्वं तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः।
(नाट्यदर्पण, पृ० १६९)

कहा जा सकता है क्योंकि यह अङ्गो अथवा उपाङ्गो से साध्य स्पष्ट चेष्टा रूप नही है[1]।

आहार्य अभिनय

बाह्य वस्तुओ के द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कहलाता है[2]। नाटककार को नाट्य की सफलता के लिए इस अभिनय की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार के अभिनय के लिए पात्रो के नेपथ्य (वेष-भूषा) आदि का विस्तृत ज्ञान रखना आवश्यक है।

नेपथ्य के चार भेद हैं—पुस्त, अलङ्कार अङ्गरचना और सञ्जीव। इसमे 'पुस्त' के अनेक भेद व प्रभेद पाए जाते हैं। पर्वत, वाहन, प्रासाद, आयुध एव कवच आदि—जिनका प्रयोग नाट्य मे किया जाता है—'पुस्त' की श्रेणी मे आते है। पुष्प की माला एव आभूषण आदि—जिनसे शरीर के विभिन्न भाग सँवारे जाते हैं—अलङ्कार कहलाते हैं। माला के पाँच प्रकार हैं—वेष्टित, वितत, सघात्यक, ग्रथिम् और प्रलम्बित। विद्वानो ने आभूषणो के चार भेद बताए हैं जो निम्न हैं—आवेध्य, बन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य। पुरुषो के लिए निम्न आभूषण हैं—

चूडामणि और मुकुट शिर के आभूषण हैं। कुण्डल एव मोचक आदि कर्ण के आभूषण है। मुक्तावली और सूत्र ग्रीवा मे पहने जाते हैं। कटक अंगुलियो का आभूषण है। वलय को बाहुनाली मे पहनना चाहिए।

स्त्रियो के आभूषण निम्न हैं—

शिखापाश, शिखाजाल, चूडामणि, मकरिका और मुक्ताजाल आदि शिर के आभूषण हैं। कुण्डल, शिखिपत्र, कमल, मोचक, कर्णिक, कर्णवलय और कर्णपूर आदि कर्ण के आभूषण हैं। व्यालपक्ति और मञ्जरी आदि ग्रीवा के आभूषण हैं। काञ्ची, कुलक, मेखला, रशना और कलाप श्रोणि के आभूषण हैं। नूपुर, किंकिणी और रत्नजाल आदि घुटिका के आभूषण हैं। पाद-पत्र जघाओ में पहने जाते हैं।

जिस स्त्री का पति विदेश चला गया हो व जो स्त्री आपत्तियों से आवृत्त हो, उसे स्वच्छ वस्त्र नही धारण करना चाहिए। उसे अपने सिर पर एक ही

---

१ *नायमभिनयोवाचिक शब्दानुकारात् । नाप्याङ्गिक , अङ्गोपाङ्गसाध्य* स्पष्ट चेष्टाया अभावादिति। (नाट्यदर्पण, पृ० १६९)

२ वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्य बाह्य वस्तु निमित्तक।

(नाट्यदर्पण, पृ० १६९)

वेणी धारण करना उचित है। अपने प्रेमी से वियुक्त स्त्री को श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए। उसे अपने शरीर को बहुत आभूषणों से नहीं अलंकृत करना चाहिए।

पात्रों को अत्यधिक आभूषणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उन्हें मंच पर भ्रमण आदि करने में कठिनाई होगी। देवी एवं देवताओं को आभूषणों से अलंकृत करना ऐच्छिक है, परन्तु मानवीय पात्रों को आभूषणों से युक्त होना ही चाहिए। एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि आभूषणों का प्रयोग उचित स्थान पर किया गया है या नहीं। यदि आभूषण उचित स्थान पर न पहने जायेंगे तो वे हास्य के निमित्त बन जायेंगे।

परिव्राजक, मुनि एवं तपस्वी आदि को काषाय वस्त्र धारण करना चाहिए। योद्धाओं का वस्त्र युद्ध के ही अनुकूल होना चाहिए एवं उन्हें चमकते हुए हथियारों एवं धनुष बाण से युक्त होना चाहिए।

देवता, गन्धर्व, यक्ष, पन्नग और राक्षसों के लिए 'पार्श्व-मौलि' नामक मुकुट का प्रयोग उचित है। उत्तम कोटि के देवताओं के लिए 'किरीटी' मुकुट उपयुक्त है। नृपति को 'मस्तक' मुकुट धारण करना चाहिए। विद्याधर एवं सिद्ध आदि के लिए 'केश' मुकुट का प्रयोग करना चाहिए। अमात्य एवं कञ्चुकी को अपने सिर पर 'उष्णीष' धारण करना चाहिए। सेनापति एवं राजकुमार को 'अर्धमुकुट' धारण करना चाहिए। बालकों के सिर को 'शिखण्ड' से सुसज्जित करना चाहिए। राक्षस दानव एवं यक्ष में प्रधान का केश भूरे वर्ण का होना चाहिए। पिशाचों में प्रधान, पागल एवं तपस्वी के केश लम्बे हों तो अधिक उचित है।

श्रावक, श्रोत्रिय, निर्ग्रन्थ तपस्वी एवं धार्मिक कार्यों में संलग्न लोगों का सिर केशविहीन होना चाहिए। यक्ष की स्त्री और अप्सरा का आभूषण मणियों का होना चाहिए। तपस्वी की कन्या को सिर पर एक वेणी ही धारण करना उचित है। परन्तु उसे बहुत अलंकृत नहीं होना चाहिए। अवन्ति की स्त्रियों का केश घुंघराला होना चाहिए। आभीर स्त्रियों को दो वेणी का प्रयोग करना चाहिए। उनका केश गहरे नीले रंग के कपड़ों से आच्छादित रहना चाहिए।

देवताओं के मन्दिर में जाते समय, किसी धार्मिक उत्सव के समय अथवा विवाहादि के अवसर पर श्वेत वस्त्रों को धारण करना चाहिए। देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, नृपति एवं शृंगारप्रिय व्यक्तियों को रंग बिरंगा वस्त्र पहनना चाहिए। कञ्चुकी, अमात्य, सेनाध्यक्ष, पुरोहित, सिद्ध, विद्याधर,

व्यापारी, शास्त्रों मे प्रवीण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और स्थानीय का वस्त्र श्वेत होना चाहिए। पागल, उन्मत्त एव आपत्तियों से घिरे हुए पुरुषों के वस्त्र मलिन होते हैं। तपस्वी, निर्ग्रन्थ, शाक्य एव श्रोत्रिय आदि को साम्प्रदायिक वस्त्रों का ही प्रयोग करना चाहिए।

देवताओं यक्षों और अप्सराओं के शरीर का वर्ण गौर होना चाहिए। रुद्र, अर्क, ब्रह्मन् एव स्कन्द के शरीर को स्वर्ण वर्ण मे चित्रित करना चाहिए। चन्द्रमा, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, समुद्र, हिमालय एव गङ्गा आदि के लिए श्वेत वर्ण उपयुक्त हैं। मगल को लाल एव हुताशन को पीले वर्ण मे चित्रित करना चाहिए। नारायण एव वासुकि को श्याम वर्ण का होना चाहिए। दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, पिशाच और समुद्र एव आकाश के देवताओं को गाढ़े नीले रङ्ग का होना चाहिए। यक्ष, गन्धर्व, भूत, नाग विद्याधर और बन्दरों को विभिन्न रङ्ग मे चित्रित करना चाहिए। किरात, बर्बर आन्ध्र प्रदेश के निवासी द्रमिड, काशी, कोशल एव दक्षिण के रहने वाले असितवर्ण होते है। अत इन्हे इसी रङ्ग मे चित्रित करना चाहिए। शक, यवन और बाह्लीक के वर्ण गौर होते हैं। पाञ्चाल, शौरसेन, मागध, बग व कलिङ्ग प्रदेश के निवासी श्याम वर्ण के होते हैं। ब्राह्मणक्षत्रियों को गौर वर्ण मे एव वैश्यों और शूद्रों को श्याम रग मे चित्रित करना चाहिए।

व्यक्ति की परिस्थितियों के अनुसार श्मश्रु के चार भेद है—शुद्ध, श्याम, विचित्र और रोमश। लिङ्गी, अमात्य एव पुरोहित को शुद्ध श्मश्रु रखना चहिए नाट्य निर्देशक को सिद्ध, विद्याधर, राजा, कुमार और युवावस्था से मत्त लोग को विचित्रि श्मश्रु से चित्रित करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सक हो, दु ख एव आपत्तियों से घिर हुए हो, उनकी श्मश्रु श्याम वर्ण की होनी चाहिए। सन्यासी एव तपस्वी को रोमश श्मश्रु से युक्त होना चाहिए।

निम्न वर्ग के लोगों को अपने सिर पर शिखा धारण करनी चाहिए अथवा केशविहीन होना चाहिए। विदूषक या तो खल्वाट होता है अथवा अपने सिर पर 'काक-पद' धारण करत। है।

अब हम नेपथ्य के चौथे भेद 'सजीव' पर प्रकाश डालेंगे। मञ्च पर जीव-जन्तु का प्रवश सजीव कहा जाता है। जीव चतुष्पद, द्विपद अथवा अपद होते हैं। सर्प बिना पैर के होते हैं पक्षी और मनुष्य के दो पैर होते हैं एव हाथी आदि जगली जानवर के चार पैर होते हैं। परन्तु रगमञ्च पर जीव-जन्तु का प्रयोग करना कुछ कारणा से अनुचित प्रतीत होता है। प्रथम कारण तो यह है कि समस्त पशु-पक्षियों को रगमञ्च पर आसीन करना असम्भव है।

हाथी, घोड़े, ऊँट एव शेर आदि पशुओं को मञ्च पर लाना अत्यन्त दुष्कर है। यदि इन पशुओ को किसी तरह लाया भी जाय तो बहुत सम्भव है कि ये उपद्रव भी कर दें। अत इन सबका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए। हाँ, जहाँ पर जीव-जन्तुओं का प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक ही हो (क्योंकि बहुत सी ऐसी कथाएँ हैं जहां इन जीवों का प्रदर्शन आवश्यक है) वहाँ पर छोटे २ जीव जन्तुओ का प्रवेश करा सकते हैं। यथा कुत्ता, बिल्ली एव बकरी आदि का प्रयोग अल्पकाल के लिए हो सकता है। कहने का तात्पर्य है कि वे ही जीव-जन्तु मञ्चपर लाए जायें जो छोटे हों एव पाल्तू भी हो।

इस प्रकार हमको भारतीय रगमञ्च के विधान का व्यापक विवेचन नाट्यशास्त्र एव अन्य परवर्ती ग्रन्थों मे मिल जाता है। इन सबको दृष्टि मे रखकर कहा जा सकता है कि भारतीय रगमञ्च कलात्मक दृष्टि को प्रमुख महत्त्व देकर नियोजित किया गया था। उसमे यथार्थ जीवन को स्वीकार अवश्य किया गया है पर कलात्मक प्रयोग मे यथार्थ की सीमा को स्वीकार करके ही उसके सारे पक्षो के सयोजन और व्यवस्था पर विचार किया गया है[1]।

---

१. रघुवश—नाट्यकला पृ०,२१०

पञ्चम अध्याय

रस-विवेचन

संस्कृत अलंकारशास्त्रियों में वामन सर्वप्रथम एवं अग्रगण्य हैं, जिन्होंने ग्रन्थ-रचना में रूपक को श्रेष्ठ माना है। अपने में पूर्ण होने से चित्र की तरह दशरूपक आश्चर्यजनक होता है। चित्रवत्ता के कारण ही दृश्य काव्य श्रेष्ठ है। यह रूपक ही है जिससे कथा, आख्यायिका एवं महाकाव्य आदि निसृत हैं।[१] वामन के मत का अनुसरण करते हुए संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के प्रौढ़ विद्वान एवं आलोचक अभिनवगुप्त ने नाटक को रसास्वाद की दृष्टि से अन्य की अपेक्षा पूर्ण माना है। इनका कथन है कि जहाँ तक रस के आनन्द का—रसास्वाद का—सम्बन्ध है, मुक्तक में उतना आनन्द नहीं आता है। क्योंकि इसमें रसास्वाद की सम्यक् रूप से प्राप्ति नहीं होती है। एक पूर्ण प्रबन्ध में ही रसास्वाद सम्यक् रूप से प्राप्त होता है। ब्रह्मानन्दस्वादसहोदर रस का आनन्द प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा नाटक में ही मिलता है।[२] वेष-भूषा, चाल ढाल और प्रवृत्ति आदि का काव्य में केवल वर्णन मात्र होता है। परन्तु नाटक में सामाजिक प्रत्यक्ष रूप से इन सबको चक्षु-इन्द्रियों से देखता है। अतः नाटक से ही रसास्वाद का अन्तिम उत्कर्ष प्राप्त होता है। सबसे कम रसास्वाद मुक्तक से होता है।[३]

यद्यपि अभिनवगुप्त ने भाषा एवं वेष आदि की प्रत्यक्षता के कारण दृश्य का अविलम्ब प्रभाव स्वीकार किया है, फिर भी श्रव्यकाव्य में इसकी योजना

१–सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धिचित्रं चित्रपटवद् विशेष साकल्यात्। ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्य हि, इदं सर्वं विलसितं कथाख्यायिके महाकाव्यमिति। (काव्यानुशासन सूत्र और विवृति, १३–३०, ३२)

२–तच्च (रसास्वादोत्कर्षकारक विभावादीनां सम प्राधान्यम्) प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामन :—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धिचित्रं चित्रपटवद् विशेष साकल्यात्। (अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २८७)

३–तद्रूपरसचर्वणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्त्यौचित्यादि कल्पनात्, तदुपजीवनेन मुक्तके। (अभिनव भारती, षष्ठ अध्याय पृ० २८७)

का अभाव प्रमाणित नहीं होता है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है, कि काव्यानुभूति सहृदय से सम्बन्धित है। सहृदय ने यदि काव्य का अनुशीलन कर लिया है, उसके कुछ प्राक्तन संस्कार हैं तो भाव आदि के उन्मीलन के द्वारा काव्य के विषय का साक्षात्कार किया जा सकता है[1]। कहने का सारांश यह है कि यदि दृश्यकाव्य समस्त बातों को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित कर देता है तो श्रव्यकाव्य में इसकी उपस्थिति के लिए सहृदय की कल्पना अपेक्षित है। काव्याभ्यास आदि ही उस कल्पना का आधार है।

अभिनवगुप्त के बाद 'श्रृंगारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजने 'कवि' और 'काव्य' को 'नट' और 'अभिनय' की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख किया है कि रसास्वादन सामाजिक व श्रोतागण के द्वारा तभी किया जाता है, जब वह एक प्रवीण नट के द्वारा अभिनीत होता है अथवा प्रबन्धकाव्य में महाकवि के द्वारा वर्णित होता है। किसी पदार्थ के श्रवण मात्र से जितना आनन्द आता है, उतना उस पदार्थ के साक्षात्कार करने पर नहीं। इसीलिए भोज ने कवि को नट की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है एवं काव्य को अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है[2]।

संस्कृत अलंकारशास्त्र में नाटककार के लिए अन्य शब्द नहीं प्रयुक्त होता है। नाटककार को भी कवि ही कहा जाता है। नाटक को भी 'काव्य' की

---

१. तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्ति कृदनपेक्षित नाट्यमपि। (अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २८७)

२. स (रस) च अनुभवैकगम्यत्वाद् असर्वविषयत्वाच्च दुखसेय.। सम्यगभिनयेषु वा विदग्धशैलूषैः प्रदर्श्यमानः सामाजिकैश्च धार्यते। प्रबन्धेषु वा महाकविभिः यथावद् आख्यायमानः विदुषां मनीषां विषयमवतरति। तत्र न तदा पदार्थाः प्रतीयमानाः स्वदन्ते, यथा वाग्मिनां वचोभिरावेद्यमानः। तदाह

"पत्थणिएमा णवि तह चित्तविआसं पुणन्ति सच्चेविआ।
"जह उणते उमिल्लन्ति सुकवि बाहि सुनीसंता।।"

अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमन्यामहे अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति।

(श्रृङ्गारप्रकाश, च० प्र०, ३-४)

ही संज्ञा से अभिहित किया जाता है। भोज का यहाँ यह कथन कि कवि और काव्य को नट एवं अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिए, अभिनवगुप्त के मत मे सूक्ष्म विरोध प्रकट करता है। भोज के अनुसार नाटककार कवि का, जिसने रस के आनन्द के लिए काव्य लिखा है—जिसमे आनन्द की प्राप्ति के लिए नटके योग की आवश्यकता नही प्रतीत होती—नट की अपेक्षा विशेष महत्त्व है—जो रंगमंच पर सामाजिक के समक्ष अभिनयो के द्वारा उसे अभिनीत करता है। यहा काव्य का तात्पर्य नाटक की पाठ्यपुस्तक से है। नाटक को दृश्यकाव्य की भी संज्ञा दी गई है। इसका जबतक रंगमंच पर प्रदर्शन नही किया जाता है—जब नाटक के अध्ययन से ही आनन्द की प्राप्ति होती है—तब नाटक काव्य ही कहा जाता है। भोज ने कवि और काव्य का जो प्रयोग किया है, वह नाटककार और उसके नाटक के लिए ही है। भोज इन्ही को नट और उसके अभिनयो की अपेक्षा विशेष महत्त्व देते हैं।

काव्य मे अनुभाव और विभावो का वर्णन रहता है। इन्हीं को रंगमञ्च पर प्रयुक्त करने से नाट्य कहा जाता है[1]। नाटक जब अभिनीत किया जाता है, तब हमे किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। इसके विपरीत काव्य में कवि की अद्भुत वर्णनाशक्ति किसी पदार्थ के स्वरूप का जीताजागता चित्रण कर देती है। यही नाटक और काव्य मे सूक्ष्म अन्तर है। एक सहृदय सामाजिक के लिए नाट्य–जिसका अभिनय न हो रहा हो—एवं काव्य में कुछ भी भेद नही है। एक उत्कृष्ट नाटक के लिए नट एवं नाट्यशाला की कोई आवश्यकता नहीं है, पाठक पढने से ही आत्मविभोर हो जायगा। पुनः जहाँ तक नाट्य (दृश्य) एवं काव्य (श्रव्य) इन दोनो की मार्मिकता का प्रश्न है, वहाँ भी परस्पर कोई भेद नही है। यदि दृश्यकाव्य के मनोहर दृश्य दर्शक के मानसपटल पर सदैव के लिए अंकित हो जाते हैं, तो श्रव्यकाव्य की मनोहर पंक्तियाँ भी सहृदयो के कण्ठ मे सदैव के लिए विराजमान हो जाया करती हैं। महिमभट्ट का यह कथन नितान्त सत्य है कि श्रव्यकाव्य एव दृश्यकाव्य दोनो के एक ही उद्देश्य हैं—आनन्द[2]। इन दोनो के उद्देश्य मे कोई भेद नही है,

---

१. अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥
(व्यक्तिविवेक मे उद्धृत)

२. सामान्येन उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम् उपायमात्र भेद. न फलभेदः। (व्यक्तिविवेक, पृ० २०)

भेद है केवल उपाय मात्र मे। श्रव्य काव्यो में भी रस-कल्पना को सार्थक मानकर वह सकते हैं कि भरतमुनिवर्णित रससूत्र में रससामग्री का उपयोग दोनो के लिए समान है।

भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' सूत्र से ज्ञात होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव रस को निष्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त स्थायी भाव भी रस सामाग्री के अन्तर्गत आते है। अब हम क्रमश इन्ही का वर्णन करेंगे।

विभाव

जगत मे प्रसिद्ध हेतु अथवा कारण शब्दो के लिए काव्य म विभाव' शब्द प्रयुक्त होता है। *इसे विभाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह वासना* रूप से स्थित, रसरूपता को प्राप्त होनेवाले रत्यादिरूप स्थायीभाव को विशेष रूप से आविर्भूत करता है[1]। नाट्यदर्पणकार का उपर्युक्त मत भरतमत स *अत्यन्त साम्य रखता है। भरतमतानुसार वाचिक, आङ्गिक अथवा सात्विक* अभिनय के माध्यम से चित्तवृत्तियो का विशेष रूप से विभावन अथवा ज्ञापन कराने वाला हेतु विभाव' है[2]।

काव्यानुशासनकार ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार स्थायी एवं व्यभिचारी चित्तवृत्तियो अथवा रस को विशेष रूप से ज्ञापित कराने के कारण ही इ हैं 'विभाव' कहा जाता है[3]। विभाव वासना रूप म अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायीभावों को आस्वादयोग्य बना देते हैं। इस प्रकार विभिन्न विद्वानो के मतो के आधार पर *हम विभाव का निम्नस्वरूप स्थापित कर सकते हैं—*

(१) स्थायीभाव आदि के हेतु को विभाव' कहते हैं।

(२) चित्तवृत्तिया का विशेषरूप से ज्ञापन कराने के कारण ही इसे विभाव की सज्ञा प्रदान की गई है।

---

१. वासनात्मतया स्थित स्थायिन रसत्वेन भवन्त विभावयन्त्याविर्भावयन्ति विशेषेण प्रयोजय तीत्यालम्बनोद्दीपनरूपाललनोद्यानादयो विभावा।
(नाट्यदर्पण पृ० १४४)

२ विभाव कारण हेतुरिति पर्याया। विभाव्यतेऽनन वागगसत्वाभिनय इति विभाव। यथा विभावित विज्ञातमिति अर्थान्तरम्। वहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रया। अनेन यस्मात् तेनाय विभाव इति सज्ञित। नाट्यशास्त्र, अ० ७, ४

३ वागाद्यभिनयसहिता स्थायिव्यभिचारिलक्षणा चित्तवृत्तयो विभाव्यते विशिष्टतया ज्ञाप्यन्ते-यै ते विभावा। (काव्यानुशासन, पृ० ५६)

(३) इनके द्वारा स्थायीभाव आस्वादयोग्य होता है।

उपर्युक्त विभाव के दो भेद निर्धारित किए गए हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। आलम्बन के भी दो भेद है—विषय और आश्रय। जिसके उद्देश्य से अथवा जिसको लेकर रति आदि स्थायीभाव जाग्रत होते हैं, वह रति आदि स्थायीभावो का विषय है। रति आदि स्थायीभावो के आधार को आश्रय कहते हैं। *आलम्बन के इन दोनो भेदों को हम विषयालम्बन एव आश्रयालम्बन कह सकते हैं।*

इसी प्रकार उद्दीपन विभाव के भी दो भेद हैं—विषयगत एव बहिर्गत। इन्हे हम पात्रस्थ एव बाह्य भी कह सकते हैं। पात्रगत उद्दीपन के अन्तर्गत पात्र के गुण, उनकी चेष्टाएं एव उनके अलकार का समावेश होना है। ऋतु, पवन एव चन्द्र आदि *उपकरण बाह्य उद्दीपन विभाव हैं।* इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्दीपन विभाव के अन्तगत देश-काल आदि का वर्णन रहता है। मान लीजिए कि शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय मे रति का उद्रेक होता है तो यहा *शकुन्तला आलम्बन, दुष्यन्त आश्रय, वसन्त ऋतु व लताकुञ्ज आदि वे विभाव* हैं जो दुष्यन्त के हृदय मे रति का और अधिक उद्रेक कर देते हैं। ये ही उद्दीपन विभाव हैं। उद्दीपन विभाव के विषय मे एक बात स्मरणीय है कि ये देश-काल के अनुसार ही प्रभाव डालते हैं। अत देश-काल का ध्यान रखते हुए ही उद्दीपन विभावो की योजना करनी चाहिए।

अनुभाव

लिङ्ग के निश्चय के बाद रस को बोधित करनेवाले होने से कार्यरूप *स्तम्भ आदि अनुभाव कहे जाते हैं*[1]। *साहित्यदर्पणकार ने भी अनुभाव शब्द* की व्याख्या इसी तरह से की है। इनके अनुसार स्थायीभावो को प्रकाशित करने वाले विकार-जो लोक मे कार्य कहे जाते हैं—काव्य एव नाट्य मे *अनुभाव की सज्ञा प्राप्त करते हैं*[2]। *विश्वनाथ के पूर्ववर्ती नाट्यदर्पणकार ने* भी अनुभावो को स्थायीभाव का कार्य ही माना है[3]। अनुभावो को स्थायी-

---

१ तत्रानुलिङ्ग निश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिङ्गिन रसमित्यनुभावा स्तम्भादय। (नाट्यदर्पण, पृ० १४४)

स्तम्भस्वेदाश्रुरोमाञ्च भ्रूक्षेपादयस्तैर्यथा सम्भव सत्तया निश्चय।
(नाट्यदर्पण, पृ० १४२)

२. उद्‌बुद्धकारणै स्वै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो (साहित्यदर्पण, पृ०१५१)

३. कार्य्यहेतु सहचारी, स्थाय्यादे काव्यवर्त्मनि।
अनुभावो विभावश्च, व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥(नाट्यदर्पण, पृ० १४४)

भाव का कार्य कहने का कारण यही है कि ये आश्रय मे स्थायीभाव के उद्बुद्ध होने के बाद उत्पन्न होते हैं। इन्हे देखकर प्रेक्षको को यह अनुभव हो जाता है कि अमुक पात्र मे अमुक स्थायीभाव का उद्रेक हो रहा है।

"वागगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते। वागगोपाङ्गसयुक्तस्त्वनुभावस्तत स्मृत[1]" के द्वारा भरत ने अनुभावो के वाचिक, सात्विक और आङ्गिक इन तीन भेदों का सकेत कर दिया है। नाट्यदर्पणकार ने अनुभावो के इस तरह के कोई भेद नही गिनाये हैं। आगे चलकर शारदातनय ने अनुभावो को तीन वर्गों में विभाजित किया है। ये निम्न हैं—

मन आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव और बुद्ध्यारम्भानुभाव[2]। शिङ्ग भूपाल ने भी अपने रसार्णवसुधाकर मे इन्ही भेदो का उल्लेख किया है[3]। इन्होने केवल मनारम्भानुभाव' के स्थान पर 'चित्तारम्भानुभाव' का उल्लेख किया है। शेष समस्त नामो को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

मानस अनुभावो को 'मन आरम्भानुभाव' एव कायिक अनुभावों को 'गात्रारम्भानुभाव' की सज्ञा प्रदान की गई है। इन दोनो का सम्बन्ध शारदातनय ने स्त्रियो से स्वीकार किया है तथा इनकी अलग अलग दस सख्या निर्धारित की है। हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य तथा औदार्य मानस अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्वोक, ललित तथा विहृत गात्रारम्भानुभाव के अन्तर्गत आते हैं। शारदातनय तथा शिगभूपाल ने इन दोनो प्रकार के अनुभावों को सात्विक भी कहा है। किन्तु [4]नाट्यदर्पणकार ने इन्हे नायिकाओं का सात्विक अलंकार कहा है और इनके अङ्गज, अयत्नज तथा स्वभावज तीन भेद किए हैं। इनमे हाव, भाव, हेला आदि अङ्गज, शोभा आदि अयत्नज एव लीला आदि स्वाभाविक अलङ्कार हैं।

जो अनुभाव वाक् द्वारा भाव प्रकट करते हैं, उन्हें 'वागारम्भानुभाव' कहा जाता है। इनके ग्यारह भेद हैं—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सदश अतिदेश, निर्देश, उपदेश और अपदेश।

चाटूक्ति को आलाप, दुःख भरे वचन को विलाप, व्यर्थ वचन को प्रलाप एव बार-बार कहने को अनुलाप कहते हैं। पूर्वोक्त का अन्यथा योजन अपलाप,

---

१ नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, ५

२ भावप्रकाश पृ० ६

३ रसार्णव सुधाकर, पृ० ४८

४. नाटयदर्पण, पृ० १८१

प्रोषित को अपने समाचार से अवगत कराना संदेश एव प्रस्तुत वस्तु का अन्य अभिधेय से सूचन अतिदेश है। निर्देश मे 'वह यह मैं हू' ऐसी बात कही जाती है। शिक्षा के लिए कुछ कहना उपदेश है। 'मैंने कहा' या 'उसने कहा' इस प्रकार का कथन अतिदेश एव व्याजपूर्वक आत्माभिलाप कथन व्यपदेश है।

'बुद्ध्यारम्भानुभाव' के अन्तर्गत रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियो का वर्णन किया जाता है। इनके प्रयोग मे बुद्धि की अत्यधिक आवश्यकता पडती है।

यद्यपि अनुभावो की सख्या अनन्त है, तथापि वेपथु स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, अश्रु मूर्च्छा, स्वेद, वैवर्ण्य इन आठ सात्विक अनुभावो को 'गोवलीवर्द-न्याय' से अलग भी गिन दिया जाता है। वास्तव मे इन्हीं अनुभावो की प्रधानता है।[1] भय, रोग, हर्ष शीत, रोष, एव प्रिय स्पर्श आदि के कारण गात्र-स्पन्द को 'वेपथु', हर्ष विस्मय, भय, मद, रोग आदि के कारण यत्न करने पर भी चलनाभाव को 'स्तम्भ', प्रिय दर्शन व्याधि, शीत, क्रोध, स्पर्श आदि के कारण रोमहर्ष को 'रोमाञ्च', मद, भय, जरा, हर्ष, क्रोध, राग रौक्ष्य आदि के कारण स्वर बदल जाने को 'स्वरभेद', शोक, अनिमेषप्रेक्षण, धूमाञ्जन, भय, पीडा, हास्य आदि के कारण नेत्र से जल निकलने को 'अश्रु', घात, कोप, मद आदि के कारण इन्द्रियो के अभिभव को 'मूर्च्छा', श्रम, भय, हर्ष, लज्जा, रोग, ताप ग्रह, दु ख, धूप, व्यायाम आदि के कारण रोम से जलस्राव को 'स्वेद' एव तिरस्कार, सन्ताप, भय, क्रोध, व्याधि, शीत, श्रम आदि के कारण शोभा-विरूपत्व को वैवर्ण्य कहते हैं।[2] इसी प्रकार अन्य अनुभावो का कारण समझ लेना चाहिए। नाट्यदर्पणकार ने उपर्युक्त अनुभावोके अतिरिक्त प्रसाद, उच्छ्वास, नि श्वास, क्रन्दन, परिदेवन, उल्लुकसन, भूमि विलेखन, विवर्तन, उद्वर्तन, नखनिस्तोदन, भ्रुकुटिकटाक्ष, तिर्यगधोमुखनिरीक्षण, प्रशमा, हसन, दान, चाटुकार एव अस्यराग आदि अनुभावों को भी गिनाया है, जो सगत ही है।[3]

व्यभिचारी भाव

जो भाव रसोन्मुख स्थायीभाव के प्रति विशेष प्रकार के आभिमुख्य से विद्यमान रहते हैं, उन्हें 'व्यभिचारीभाव' कहते हैं।[4] 'व्यभिचारी' शब्द मे

१—वेपथु स्तम्भ रोमाञ्चा, स्वरभेदोऽश्रु मूर्च्छनम्।
स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्या, अनुभावा रसादिजा ॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १६५)

२—नाट्यदर्पण, १६५, १६६, १६७

३—नाट्यदर्पण, पृ० १६५

४, रसोन्मुख स्थायिन प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्त इति व्यभिचारिण। (नाट्यदर्पण, पृ० १४४)

'वि' + 'अभि' + 'चर' उपसर्ग तथा धातु का संयोग स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। 'वि' और 'अभि' उपसर्ग क्रमशः विविधता और आभिमुख्य के द्योतक हैं और 'चर' संचरण का द्योतक है। इसलिए वाक्, अङ्ग तथा सत्वादि द्वारा विविध प्रकार के, रसानुकूल संचरण करने वाले भावों को व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहते हैं[1]। दशरूपककार के अनुसार जो भाव विशेष रूप से स्थायीभाव के अन्तर्गत कभी उठते हैं और कभी उन्हीं के अन्दर डूब जाते हैं, वे व्यभिचारीभाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसके साथ ही दशरूपककार ने यह भी उल्लेख किया है कि जैसे समुद्र में तरङ्गों का आविर्भाव होता है व पुनः उन्हीं में तरङ्गों का विलय हो जाता है, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायीभाव में उन्मग्न तथा निर्मग्न होते हैं[2]। विश्वनाथ[3] और शिङ्गभूपाल[4] ने दशरूपककार के ही शब्दों को यत्किञ्चित् परिवर्तनों के साथ दुहराया है। साहित्यकौमुदी[5] के लेखक ने सञ्चारीभाव को भावों का सञ्चालक, गतिवर्ता और रसप्रदीपकार ने उन्हें स्थायी का उपकारक, गतिवर्त्ता एवं अचिर बताकर भरत के ही लक्षण की पुष्टि की है। नाट्यदर्पणकार ने व्यभिचारीभाव का निर्वचन एक अन्य प्रकार से भी किया है। स्थायी भाव के साथ व्यभिचारी होने से ही इसे व्यभिचारीभाव कहा जाता है। क्योंकि स्थायीभाव के विद्यमान होने पर भी ये अविद्यमान रहा करते हैं एवं उनके अविद्यमान होने पर भी ये विद्यमान रहते हैं[6]। कहने का तात्पर्य है कि ये अपने विभाव

---

१. वि. अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः। धात्वर्थं वागंगसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। (नाट्यशास्त्र, पृ० ८४)

२. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥
(दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, ७)

३. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः॥
(साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद)

४. उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः स्थायिन्यम्बुनिधाविव।
ऊर्मिवद्वर्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते॥
(रसार्णवसुधाकर, द्वितीय विलास,३)

५. सञ्चारयति भावस्य गतिमिति सञ्चारी। विशेषेण आभिमुख्येन स्थायिनं प्रति चरति इति व्यभिचारी। (साहित्यकौमुदी, ४।७)

६. ...यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः स्थायिभावव्यभिचारिणः भावे भावात्, अभावेऽभावाच्च। रसावस्थामुपायुक्तयो हि ग्लान्यालस्य-श्रम-प्रभृतयो न भवन्त्येव।
(नाट्यदर्पण, पृ० १४४)

के होने पर भी न होने से और अपने विभावादि रूप कारणों के न होने पर भी होने से ये अपने विभावों के व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

अब उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के आधार पर हम व्यभिचारीभावों का निम्न स्वरूप स्थापित कर सकते हैं—

(१) सञ्चारी भावों का एक विशेष गुण है कि ये स्थायी नहीं रह सकते। इनका स्थायी भाव के साथ अनियत सम्बन्ध है। (२) ये स्थायीभाव को दीपित करते हैं। (३) स्थायीभाव के साथ इनका सम्बन्ध वारिधि तथा कल्लोल का-सा है।

साधारणतः व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गई है किन्तु इनकी संख्या अपरिमित है। भोज ने 'अपस्मार' एवं 'मरण' के स्थान पर 'ईर्ष्या' तथा 'शम, को व्यभिचारीभाव माना है और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अपस्मार' एवं 'मरण' के स्थान पर 'ईर्ष्या' तथा 'स्नेह' को रखा है[1]। आचार्य हेमचन्द्र ने तैंतीस व्यभिचारियों के अतिरिक्त दम्भ, उद्वेग, क्षुत् एवं तृष्णा को भी व्यभिचारी भाव माना है[2]।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में निम्न तैंतीस व्यभिचारी भावों का उल्लेख किया है—

निर्वेद, ग्लानि, अपस्मार, शङ्का, असूया, मद, श्रम, चिन्ता, चापल, आवेग, मति, व्याधि, स्मृति, धृति, अमर्ष, मरण, मोह, निद्रा, सुप्त, औग्रय, हर्ष, विषाद, उन्माद, दैन्य, व्रीडा, त्रास, तर्क, गर्व, औत्सुक्य, अवहित्था, जाड्य, आलस्य एवं विबोध।[3] इसके अतिरिक्त इन्होंने क्षुत्, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, अरति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव, दाक्षिण्य आदि को भी सञ्चारी

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण ५,१६-१७

२. संख्यावचनं नियमार्थं तेनान्येषामत्रैवान्तर्भावः। तद्यथा दम्भस्यावहित्थे, उद्वेगस्य निर्वेदे क्षुत्तृष्णादेर्ग्लानौ। (काव्यानुशासन, पृ० ८६)

३. निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्काऽसूया-मद-श्रमाः।
चिन्ता चापलमावेगः, मतिर्व्याधिः स्मृतिर्धृतिः॥
अमर्षो मरणं मोहः, निद्रा-सुप्तौग्र्य-हृष्टयः।
विषादोन्माद-दैन्यानि, व्रीडा-त्रासौ वितर्कणम्॥
गर्वौत्सुक्यावहित्थानि, जाड्यालस्य-विबोधनम्।
त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं, रसानां व्यभिचारिणः॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १५७)

भाव माना है[1]। इन सञ्चारियों का हम पूर्वकथित सचारीभावो मे ही अन्तर्भाव कर सकते हैं। 'अरति' को ग्लानि के अन्तर्गत रख सकते हैं। 'दया', 'मार्दव' और आर्जव' एक प्रकार मे परस्पर पर्यायवाची हैं। इसी तरह हम समस्त नए सचारीभावो का पूर्वमान्य व्यभिचारीभावों मे अन्तर्भाव मान सकते हैं। परन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि इन सञ्चारीभावों को सीमित कर देना उचित न होगा और रसों की दृष्टि से उपयोगी भी न होगा। क्योंकि प्रत्येक भाव अथवा स्थिति मे कुछ न कुछ अन्तर बना ही रहता है। एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची भी सूक्ष्म रूप से परस्पर भिन्न रहते हैं इसी प्रकार नाट्यदर्पणकार ने जो नवीन सञ्चारीभावो की कल्पना की है, वह भी असंगत नही है। 'दया' से जो भाव व्यक्त होता है, वही भाव 'मार्दव' और 'आर्जव' से नहीं। 'दया' मे शक्ति के सामर्थ्य का भी बोध होता है, 'मार्दव' और 'आर्जव' मे स्वाभाविक विनम्रता का। कहने का साराश है कि प्रसङ्गानुसार अन्य सचारीभावों की कल्पना की जा सकती है।

तत्त्वज्ञान, दारिद्रय, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, श्रम, आक्रोश, ताडन, इष्ट-वियोग एव परविभूतिदर्शन आदि कारणों से अपने प्रति विरसता 'निर्वेद' है। और वह नि श्वास और सन्ताप तथा उनके उपलक्षण रूप होने से चिन्ता, अश्रु, विवर्णता एव दैन्यादि अनुभावो का भी जनक होता है। व्याधि, वमन, विरेक, क्षुधा, पिपासा, जरा, व्यायाम, मार्गगमन एव सुरत आदि से सामर्थ्य का अभाव 'ग्लानि' है। इसके अनुभाव हैं—शरीर का क्षीण होना कम्पन, वचन, व क्रिया का मन्द हो जाना, गति धीमी पड जाना, मुख का वर्ण फीका पड जाना एव अनुत्साह आदि। पिशाचादि के कारण तथा धातुवैषम्य, त्यक्त स्थान के सेवन एव अशुचि सम्पर्क आदि के कारण कार्य एव अकार्य की विवेचना-शक्ति जाती रहती है। इसी को 'अपस्मार' कहते हैं। इसमे सहसा भूमि पर गिर पडना, मुख से फेन निकलना, नि श्वास, दौडना, कम्पन, स्तम्भ एव स्वेद आदि चेष्टाएँ होती हैं। अपने या दूसरों के दुष्कर्मों से मन का कम्पन 'शङ्का' है। शरीर का वर्ण श्याम होना, बार बार अवलोकन, अवगुण्ठन, मुख, कण्ठ एव ओष्ठ का सूख जाना, जिह्वा से चाटना, कम्पन एव चञ्चल दृष्टि का होना आदि इसके अनुभाव हैं। द्वेष, अपराध, गर्व, दूसरों का सौभाग्य और ऐश्वर्य विद्या आदि कारणों से सद्गुणो को न सह सकना 'असूया' है। यह विद्यमान अथवा अविद्यमान वञ्चकत्वादि दोषो को देखने वाली होती है।

---

१ अन्येऽपि पुन सम्भवन्ति यथा क्षुत् तृष्णा मैत्री-मुदिता श्रद्धादयोपेक्षा-रति-सन्तोष क्षमा मार्दवार्जव-दाक्षिण्यादय । (नाट्यदर्पण, पृ० १५७)

भ्रूमङ्ग, अवज्ञा, गुणों को छिपाना, मन्यु एवं क्रोध आदि इसके अनुभाव हैं। मद्यपानादि से उत्पन्न हर्ष आदि को 'मद' कहते हैं। यह मद तीन तरह का होता है—ज्येष्ठ, मध्यम और अधम। ज्येष्ठ मद में निद्रा, मुस्कराहट, मुख पर लाली, रोमहर्ष, ईषद् व्याकुल वचन एवं सुकुमार गमन आदि अनुभाव पाए जाते हैं। मध्यम मद में हास, स्खलन, घूर्णन, बाहुस्रसन एवं कुटिलगमन आदि अनुभाव पाए जाते हैं। अधम मद में रोना, थूकना, स्मृतिनाश, गति-भ्रंश, वमन एवं हिचकी आदि अनुभाव होते हैं। सुरत, मार्गगमन एवं व्यायाम आदि से जनित खेद को 'श्रम' कहते हैं और वह स्वेद, श्वास का तेज चलना, मुख विकूणन, विजृम्भण, अङ्गमर्दन एवं मन्दगति आदि का कारण होता है। इष्ट की प्राप्ति अथवा अनिष्ट प्राप्ति से जो मानसिक पीड़ा होती है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। इसमें इन्द्रियों का विकल होना, एकाग्र दृष्टि होना, स्मृति, दीर्घश्वास एवं कृशता आदि अनुभाव पाए जाते हैं। राग, द्वेष एवं जड़ता आदि के कारण सहसा बिना समझे-बूझे काम करना 'चापल' है। इसमें स्वच्छन्द आचार, कठोर वचन, ताडन, वध एवं बन्ध आदि अनुभाव पाए जाते हैं। देवता, गुरु, मान्य, वल्लभ एवं सफलता आदि इष्ट के श्रवण अथवा दर्शन आदि से तथा अग्नि, भूकम्प आदि उत्पात, झञ्झावात, जोर की वर्षा, हाथी, चोर, सर्प आदि जनित अनिष्ट के श्रवण अथवा दर्शन से लोगों में जो सम्भ्रम पाया जाता है, उसे 'आवेग' कहते हैं। यदि आवेग इष्टजनित है तो अभ्यु-त्थान (बड़ों के सम्मान के लिए आसन छोड़कर खड़ा होना), पुलक, आलिङ्गन, वस्त्रादि-प्रदान आदि आंगिक अनुभाव, हर्ष, विस्मय आदि मानस अनुभाव, स्तुति एवं चाटुकारिता आदि वाचिक अनुभाव होते हैं। यदि संभ्रम अनिष्टजनित है तो सर्वाङ्ग शैथिल्य, मुख वैवर्ण्य, अङ्गों का सिकुड़ जाना, वेग से दौड़ना, नेत्रों का आकुल होना, त्वरित अपसरण, शस्त्रग्रहण, भूमि पर गिरना, कम्प, स्वेद, स्तम्भ आदि आङ्गिक अनुभाव, शंका, विषाद, भय आदि मानस अनुभाव, क्रन्दन और परिदेवनात्मक वचन आदि वाचिक विकार पाये जाते हैं। उत्तम पात्र में ये समस्त विकार स्थैर्यानुविद्ध होते हैं एवं नीच पात्र में चापलानुविद्ध होते हैं। शास्त्रविषयक चिन्तन, तर्क तथा उपदेश आदि के कारण जिससे संशय अथवा विपर्यय का नाश हो जाता है, ऐसी नवनवो मेष-शालिनी बुद्धि को 'मति' कहते हैं। इसमें संशय, विपर्यय व भ्रान्ति आदि का उच्छेद होता है। कफ, वात, पित्त और उनके सन्निपात आदि दोषों से जो आङ्गिक अथवा मानसिक क्लेश होता है उसे 'व्याधि' कहते हैं। इसमें आर्त-स्वर, कम्पन, मुखशोष, दाँत कटकटाना, शीताभिलाष, विक्षिप्तांगता एवं सन्ताप

आदि अनुभाव पाए जाते हैं। जब किसी सदृश पदार्थ के दर्शन या श्रवण या उसके चिन्तन आदि से पूर्वदृष्ट पदार्थ का ज्ञान होता है, तब उसे 'स्मृति' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—भौंहों का ऊँचा करना, सिर का कँपाना एव अवलोकन आदि। विवेक ज्ञान अथवा बहुश्रुतत्व, पवित्र आचरण, क्रीडा, देवतादि भक्ति एव विशिष्ट शक्ति आदि से जो सन्तुष्टि होती है, उसे 'धृति' कहते हैं। इसमे देहपुष्टि एव गतानुशोचन का अभाव आदि अनुभाव पाए जाते हैं। तिरस्कार एवं अपमान आदि के कारण तत्कर्ता के विषय मे अपकार करने की अभिलाषा को 'अमर्ष' कहते हैं। इसमे कम्पन, अधोमुख चिन्तन, प्रस्वेद, उत्साह, उपायान्वेषण, तर्जन, ताडन आदि अनुभाव पाये जाते हैं। वात, पित्त, श्लेष्म की विषमता, ज्वर, विषूचिका (खुजली), गिटक (मुँहासा) आदि के कारण तथा शस्त्राभिघात, विषपान, सर्पदंश, श्वापद, गज, तुरगादि के आक्रमण के कारण अथवा उच्च स्थान से पतन आदि के कारण प्राणी सोचता है कि इस अनर्थ का प्रतिकार दुष्कर है 'अत मैं अवश्य मर जाऊँगा'—ऐसा मृत्यु सकल्प 'मरण' कहलाता है। इसमे इन्द्रिय वैकल्य (स्वविषय ग्रहण मे असमर्थता),हिक्का, नि श्वास, परिजनों का न देखना, अस्पष्ट शब्दो का उच्चारण, वदन दैन्य, सहसा भूमिपतन, कम्पन, स्फुरण, कृशता, फेन, जाड्य, हस्त और स्कन्ध का भग्न होना, एव अनपेक्षित गात्रसञ्चार आदि अनुभाव होते हैं। प्राणनिरोध रूप मरण नाट्य मे प्रयोज्य नहीं है। अत इसके विभावानुभाव के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं किया जाता है। मर्मस्थल पर अभिघात तीव्र वेदना, व्याघ्र आदि के आक्रमण, देशविप्लव, अग्नि, जल आदि का उपघात, शत्रु आदि के दर्शन एव श्रवण आदि से प्रवृत्ति-निवृत्ति के ज्ञान का जो अभाव होना है, उसे 'मोह' कहते हैं। इसमें सिर का चकराना, भ्रमण, पतन, इन्द्रियों का व्यापाररहित होना आदि अनुभाव होते हैं। खेद, आलस्य, दौर्बल्य, रात्रिजागरण, अत्याहार, मद, श्रम, क्लम, चिन्ता एव निद्रा आदि के कारण इन्द्रियां स्वविषय ग्रहण से उपरत हो जाती हैं। इसी को 'निद्रा' कहते हैं। मूर्द्धकम्पन, जृम्भण, मुख का फैलाना, नि श्वास, नेत्रपूर्णन, अङ्गभङ्ग एव आँख मीचना आदि इसके अनुभाव हैं। निद्रा की गाढ़तम अवस्था को 'सुप्त' कहते हैं। इसमे मन सहित ज्ञानेद्रिया अपने विषयो से विमुख हो जाती हैं। निद्रा मे मन का अवधान रहता है परन्तु सुप्त मे मन भी किञ्चिद उपरुद्ध रहता है। यही दोनो मे भेद है। हिंसक, असत्यवादी एव वञ्चक आदि दुष्ट व्यक्तियों के कटुभाषण एव चौर्य आदि अपराध के कारण उनके प्रति राजा आदि की निर्दयता 'औग्र्य' है। बन्ध वध, ताडन, निर्भर्त्सन, स्वेद एव शिर कम्प आदि इसके अनुभाव हैं। प्रिय संयोग अथवा अप्रिय

सयोग की निवृत्ति, देव, गुरु, राजा एव स्वामी आदि की प्रसन्नता, धन एवं पुत्र आदि का लाभ, पुत्रादिगत हर्ष, विषयोपभोग एव उत्सव आदि के कारण चित्त का विकास 'हर्ष' है। इसमे स्वेद, अश्रु, गद्गद् वाणी, पुलक, प्रियभाषण, नेत्र एव मुख आदि की प्रसन्नता आदि अनुभाव हैं। प्रारम्भ किए हुए कार्य का पूरा न होना, दैव की अनुकूलता आदि इष्ट की प्राप्ति न होने से अथवा विपरीत फलप्राप्ति से जनित अनुत्साह से आक्रान्त चित्त सन्ताप को 'विषाद' कहते हैं। नि श्वास, उपायचिन्तन, सहायान्वेषण, विकलता आदि अनुभाव उत्तम अथवा मध्यम पात्रो मे पाए जाते हैं। मुख शोष, निद्रा, ध्यान, जिह्वा-परिलेह आदि अनुभाव अधम पात्रो मे पाए जाते हैं। ग्रह-दोष से मन की अस्थिर दशा को 'उन्माद' कहते हैं। इसमे अनुचित गीत, नृत्त उठना, सोना, रोना, बुरे शब्दो का प्रयोग करना, असम्बद्ध प्रलाप, अनिमित्त हास आदि अनुभाव पाए जाते हैं।

विप्रलम्भ श्रृंगार मे 'उन्माद' उत्तम पात्रगत होता है और करुण रस मे अधम पात्रगत। 'अपस्मार' बीभत्स और भयानक रसगत होता है। अपस्मार मनोवैकल्य दशा को कहते हैं और उन्माद मन की अवस्थिति को।

अभाग्यवश कष्टमय जीवन अथवा तिरस्कार आदि से मन-क्लैब्य को 'दैन्य' कहते हैं। इसमें वदनश्यामता, मुख का छिपाना, शरीर का सस्कार न करना, गौरवपरिहार एवं वस्त्रो की मलिनता आदि अनुभाव पाए जाते हैं। गुरुजनो की आज्ञा का उल्लघन, उनके अपमान एव निन्दा आदि स्वकृत बुरे आचरणों के बाद मन मे उस दुष्कृत्य के सम्बन्ध मे जो विवेक होता है अर्थात् अनुभव होता है कि मैंने यह बुरा किया, इसी मानस विवेक को 'व्रीडा' कहते हैं। धृष्टता का अभाव, गात्र गोपन, अधोमुख चिन्तन, नख-निस्तोदन, भूमिलेखन (पृथ्वी पर लकीर खीचना) एव वस्त्राङ्गुलीय-स्पर्शन आदि इसके अनुभाव हैं। भीषण निर्घात, उत्पात, महाभैरवनाद, महारौद्र सत्व एव शव आदि के दर्शन से जो उद्वेगकारी चमत्कार होता है उसे 'त्रास' कहते हैं। शरीरसकोच, कम्पन, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा एव गद्गद् वचन आदि इसके अनुभाव हैं। विप्रतिपत्ति, सन्देहनिवारक प्रबल प्रमाण के बल से उत्पन्न दूसरे के पक्ष के अभाव का ज्ञान एव विशेष प्रतीति की इच्छा आदि विभावो से एक पक्ष की सम्भावना करना 'तर्क' है। भौंह, सिर व अंगुलियों का नचाना आदि इसके अनुभाव हैं। विद्या, जाति, कुल, लाभ, बुद्धि, यौवन एव ऐश्वर्य आदि के कारण परजुगुप्साक्रान्त अपने विषय में बहुमान को 'गर्व' कहते हैं। दूसरो की अवज्ञा, पारुष्य, असूया, उत्तर न देना,

अङ्गावलोकन, उपहास करना एवं अलङ्कारों का व्यतिक्रम आदि इसके अनुभाव हैं। इष्ट के स्मरण, मनोज्ञदिदृक्षा, अत्यन्त अनुराग एवं लोभ आदि के कारण इष्ट की ओर अभिमुख होना 'औत्सुक्य' है। इसमें मन, वचन, काय एवं दृष्टि का चपल होना, कृत्य विस्मरण, दीर्घनिश्वास, असम्बद्ध, रुदन, स्वेद, हृदय का सन्तप्त होना आदि अनुभाव हैं। प्रगल्भता, भय, लज्जा, गौरव, कुटिलाशयत्व आदि के कारण भ्रूविकार एवं मुख राग आदि मानसिक विकारों का संवरण 'अवहित्था' है। प्रस्तुत क्रिया से भिन्न कथन, अवलोकन, कथाभङ्ग एवं मिथ्या धैर्य आदि इसके अनुभाव हैं। इष्ट के दर्शन अथवा श्रवण, अनिष्ट के दर्शन अथवा श्रवण, व्याधि आदि के कारण नेत्र एवं श्रोत्र आदि से क्रमशः देखते हुए, सुनते हुए भी किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाना 'जाड्य' है। इसमें मनोवैकल्य और अचैतन्य नहीं पाया जाता है। इस कारण यह अपस्मार और मोह से भिन्न है। मौन, अनिमेष निरीक्षण एवं परवशता आदि इसके अनुभाव हैं। शब्द, स्पर्श, स्वप्नान्त एवं भोजन का परिपाक हो चुकने आदि के कारण नींद की अवस्था के चले जाने पर 'विबोध' होता है। अङ्गों का ऐंठना, जँभाई लेना, आख मींचना, शयन त्याग, भुजाक्षेप एवं अँगुलियों का तोड़ना आदि इसके अनुभाव हैं।

यद्यपि ऊपर तैंतीस व्यभिचारीभावों का वर्णन किया गया है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रकार संचारियों की सीमा निश्चित कर देना न तो अन्तर्दृष्टि का परिचायक हो सकता है, न रसों की दृष्टि से उपयोगी ही। वस्तुतः प्रत्येक भाव अथवा स्थिति में कुछ न कुछ प्रभाव का अन्तर तो बना ही रहता है। अतएव इनकी कोई सीमा निर्धारित करना हितकर नहीं है[1]।

स्थायीभाव

ये स्थायीभाव हृदय में वासना रूप से संस्थित रहते हैं[2]। अभिनवगुप्त प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने इनकी वासनारूपता के सम्बन्ध में विचार किया है। जगत का कोई भी प्राणी इन चित्तवृत्तियों से शून्य नहीं है। संस्कार रूप होने से यह जन्म से ही प्रत्येक प्राणी के अन्तर्गत विद्यमान है[3]। यह स्थायीभाव, प्रतिक्षण उत्पत्ति एवं विनाश धर्म से युक्त व्यभिचारी भावों में अनुगत

१. डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० ४४-४५

२ वासनात्मतयास्थित स्थायिन • •। (नाट्यदर्पण, पृ० १४४)

३ जात एव जन्तुरियतीभि संविद्भि परीतो भवति।
न हि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्य प्राणी भवति।
वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात्। (अभिनवभारती)

रूप से रहता है[1]। स्थायीभाव को अन्य भाव मिटा नही सकते, अन्य भावो को स्थायीभाव अपने मे आत्मसात् कर लेता है[2]। साथ ही साथ ये वास्तविक आनन्द के प्रदाता भी हैं।

मनुष्य इस जगत मे जो कुछ देखता या सुनता है, उन सबका सस्कार उसके मन पर पड़ता है। क्षणिक होने के कारण उपर्युक्त अनुभव तो नष्ट हो जाता है परन्तु वह अपने पीछे एक स्थायी वस्तु 'सस्कार' छोड़ जाता है, जिसे वासना भी कहते हैं। मन मे स्थायी रूप से रहने वाली इसी वासना को ही स्थायीभाव कहते हैं। इस प्रकार हम स्थायीभाव की निम्न विशेषताएँ बता सकते हैं—

(१) स्थायीभाव जन्मजात हैं और समस्त प्राणियो मे वासनात्मक रूप से रहते हैं।

(२) ये सजातीय तथा विजातीय भावो से नष्ट नही होते हैं।

(३) ये अपने में अन्य भावो को आत्मसात् कर लेते हैं।

(४) ये आस्वाद का मूलभूत होकर विराजमान रहते हैं।

(५) ये चर्वणा योग्य हैं।

(६) ये विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभावो से परिपुष्ट होकर रसरूप मे परिणत हो जाते हैं।

स्थायीभाव को पुष्ट करने के लिए समुद्र की उपमा ले सकते हैं। समुद्र के अन्तर्गत कोई भी खारा या मीठा पानी मिलकर तद्रूप हो जाता है, समुद्र समस्त वस्तुओ को आत्मसात् करके तद्रूप बना लेता है। इसी प्रकार स्थायीभाव भी समस्त भावो को आत्म रूप बना लेता है।

इन स्थायीभावों की सख्या नव है[3]। ये प्राणी की सबसे अधिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। स्थायीभाव तो इतने ही हैं क्योकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओ से युक्त रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर उत्कर्ष को

---

१ प्रतिक्षणमुदयव्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयाऽवश्य तिष्ठतीति स्थायी। (नाट्यदर्पण पृ० १८१)

२ अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादाकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति सम्मत ॥
(साहित्यदर्पण, पृ० २१२)

३ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भय तथा।
जुगुप्सा विस्मय शमा, रसाना स्थायिन क्रमात् ॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १५६)

प्राप्त रमण करने की इच्छा से युक्त रहता है। रमण करने की इच्छा के कारण व्यक्ति दूसरे का उपहास भी किया करता है। प्रत्येक व्यक्ति इष्ट वियोग से दुःखी होता है, इससे शोक की सत्ता का आभास मिलता है। इष्ट-वियोग के कारण मानव तत्तत् कारणों के प्रति क्रोध करता है। शक्ति के अभाव मे वह उन वस्तुओ से डरता भी है। व्यक्ति किसी को प्राप्त करने की इच्छा रखता है, अनुचित पदार्थ के प्रति घृणा करता है, अपने या अन्य के कार्यों को देखकर विस्मित होता है एवं त्याग करने की भी इच्छा करता है[1]। इस प्रकार व्यक्ति उपर्युक्त स्थायीभावो से युक्त रहता है। उपर्युक्त सस्कारो मे राग, द्वेष, उत्साह और जुगुप्सा का अत्यधिक प्राधान्य है। ये सस्कार मानव योनि मे ही नही अपितु पशु, पक्षी, कीट एव पतङ्ग आदि मे भी पाए जाते हैं। इन चित्तवृत्तियो के सस्कारो से रहित कोई भी प्राणी नही है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी प्राणी मे कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है और किसी में कुछ कम। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है एव किसी की चित्तवृत्ति इसके विपरीत होती है।

स्त्री और पुरुष का परस्पर प्रेम 'रति' है। मन की प्रसन्नता एवं उन्माद आदि से उत्पन्न चित्त विकास 'हास' है। निर्वेद से युक्त दु ख 'शोक' है। अन्य के अपकार करने एवं अन्य से घृणा करने का हेतुभूत सन्ताप का आवेश 'क्रोध' है। धर्म, दान एव युद्धादि कार्यों के प्रति आलस्य का अभाव 'उत्साह' है[2]। घबराहट को 'भय' कहते हैं। कुत्सित होने का निश्चय 'जुगुप्सा' है। उत्कृष्ट होने का निश्चय 'विस्मय' है। इच्छा का अभाव 'शम' है[3]।

सञ्चारीभावो के समान ही स्थायीभावो की सख्या को अधिकाधिक विस्तार देने की चेष्टा होती रही है। दूसरी ओर से नवीन स्थायीभावों को पुराने स्थायीभावो मे ही अन्तर्भावित करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि यदि सस्कार-वृद्धि पर ध्यान दिया जाय तो नवीन स्थायीभावो की स्वीकृति के लिए मार्ग निकाला जा सकता है।

स्थायीभाव भी सञ्चारीभावो मे परिवर्तित हो जाते हैं[4]। 'व्यक्तिविवेक' के प्रसिद्ध टीकाकार रुय्यक के मतानुसार भी स्थायीभावो का व्यभिचारित्व

---

१ अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २६७

२ नाट्यदर्पण, पृ० १५६

३. नाट्यदर्पण पृ० १५५-१५७

४ तेनामी रसान्तराणा व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च भवन्ति, तत्रागामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात्। (नाट्यदर्पण, पृ० १५७)

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य के अनेक विद्वानों ने स्थायीभावों का समयानुसार सञ्चारीभावों के रूप में भी परिवर्तन स्वीकार किया है।

रस-निबन्धन

काव्य के अन्तर्गत रस के निबन्धन में सतर्क रहना चाहिए। अभिनेय व अभिनेय काव्यों के शरीर शब्द और अर्थ ही हैं। इस शरीर में रस प्राण के समान है। इसीलिए कवि लोग स्वभावतः रस में प्रीति रखते हैं। काव्य में जितना रस श्लाघ्य है, उतना अर्थोत्प्रेक्षा एवं शब्दोत्प्रेक्षा नहीं। नए-नए अर्थ से व्युत्पन्न शब्द-ग्रथन ही काव्य नहीं है। यदि ऐसा होने लगे तब तो तर्क और व्याकरण को भी काव्य ही की संज्ञा प्रदान की जायगी। परन्तु बात ऐसी नहीं है। विचित्र रस से युक्त शब्द और अर्थ के सन्निवेश को ही काव्य कहा जायगा। शुष्क कवि ही यमक एवं श्लेष आदि अलङ्कारों के चक्कर में पड़ते हैं, सरस कवि नहीं। सरस कवि तो रस को ही प्रधानता देते हैं[1]।

नाट्यदर्पणकार का रस-सिद्धान्त

नाट्यदर्पणकार ने स्वतन्त्र ढंग से रस-विवेचना प्रस्तुत की है। इनके अनुसार काव्य नाटकादि में दूसरे (रामादि) में रहने वाले रस की प्रतीति अन्तःकरणवर्तिनी होती है। अन्तःकरण के धर्म इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं, अतएव रस की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है। यह परोक्षरूप ही है। पुनश्च यह परोक्ष प्रतीति उससे अविनाभूत अन्य वस्तु के द्वारा होती है। रस में इस प्रकार की अन्य वस्तु का सम्भव न होने से अनुभावादि ही रस के अविनाभूत हैं। अतएव उन्हीं के द्वारा रस-प्रतीति होती है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ अन्य सिद्धान्तों में रस को साक्षात्कारात्मक ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है, वहाँ इन विद्वानों ने रस की परोक्षात्मक और परस्थ प्रतीति का उपपादन किया है। इन्होंने रस-सिद्धान्त में कुछ सीमा तक शंकुक के अनुमितिवाद का अनुसरण किया है, परन्तु इनका अनुमितिवाद भी शंकुक के अनुमितिवाद से कुछ भिन्न है।

शंकुक ने नटगत अनुभावादि से रस की अनुमिति मानी है, जब कि नाट्यदर्पणकार ने सामाजिकगत अनुभावादि के द्वारा रसानुमिति का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार अन्यगत (अनुकार्य राम आदि में रहने वाले) विभावादि के अनुकरण में प्रवृत्त होने वाले, दूसरे के रञ्जनार्थ प्रवृत्त

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १५२

२ नाट्यदर्पण पृ० १४२

होता है। यथा देवादि विषयक रतिभाव में, हास, शृंगार आदि में, शोक विप्रलम्भशृङ्गार आदि में, क्रोध प्रणयकोप में, विस्मय वीर आदि में, उत्साह शृङ्गार आदि में, भय अभिसारिका आदि में, जुगुप्सा संसार की निन्दा में, शम क्रोधित व्यक्ति के प्रसादोद्गम आदि में व्यभिचारी होते हैं[1]। भानुदत्त मिश्र ने भी 'रसतरंगिणी' में, स्थायियों का व्यभिचारित्व स्वीकार किया है। यथा हास शृङ्गार मे रति, शान्त, करुण तथा हास्य में, भय एवं शोक करुण तथा शृङ्गार मे, क्रोध वीर में, जुगुप्सा भयानक में, उत्साह एवं विस्मय समस्त रसों में व्यभिचारी होते हैं[2]। अल्लराज का कथन है कि प्रायः भय तथा उत्साह स्थायीभाव व्यभिचारीभाव के रूप में उपस्थित हो जाते हैं और व्यभिचारीभाव मोह, आवेग तथा आलस्य भी मूर्च्छा, संभ्रम तथा तन्द्रा जैसे भावो को उत्पन्न करने में समर्थ हैं[3]।

भावो के स्थायित्व और व्यभिचारित्व प्राप्त करने के रहस्य को बतलाते हुए शार्ङ्गदेव ने लिखा है कि पर्याप्त एवं समुपयुक्त विभावों से जायमान रत्यादि 'स्थायी' कहलाते हैं। वे ही जब अल्प विभावों से जायमान होते हैं, तो व्यभिचारी कहलाते हैं। तब वे अन्य रसों में भी व्यभिचारी होते हैं। यथा हास शृङ्गार मे, रति शान्त में, क्रोध वीर में, भय शोक में, जुगुप्सा भयानक में तथा उत्साह एवं विस्मय समस्त रसो में व्यभिचारी होते हैं[4]।

---

१. स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भवति। यथा रतेः देवादि विषयायाः, हासस्य शृङ्गारादौ, शोकस्य विप्रलम्भशृङ्गारादौ, क्रोधस्य प्रणयकोपादौ, विस्मयस्य वीरादौ, उत्साहस्य शृङ्गारादौ, भयस्य अभिसारिकादौ, जुगुप्सायाः संसार-निन्दादौ, शमस्य क्रोधाभिहतस्य प्रसादोद्गमादौ।

(व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ११–१२)

२. स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति। हासः शृंगारे। रतिः शान्त करुण हास्येषु। भय-शोकौ करुण-शृङ्गारयोः। क्रोधो वीरे। जुगुप्सा भयानके। उत्साह-विस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। (रसतरंगिणी, त० ५, पृ० ११४)

३. रसरत्नप्रदीपिका, पृ० २३, ४।७७-७८

४. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः॥
रसान्तरेष्वपि तदा यथायोगं भवन्ति ते।
यथा हि हासः शृङ्गारे रतिः शान्ते च दृश्यते॥
वीरे क्रोधः भयं शोके जुगुप्सा च भयानके।
उत्साह विस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ॥ (संगीतरत्नाकर)

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य के अनेक विद्वानो ने स्थायीभावो का समयानुसार सञ्चारीभावों के रूप में भी परिवर्तन स्वीकार किया है।

रस-निबन्धन

काव्य के अन्तर्गत रस के निबन्धन में सतर्क रहना चाहिए। अभिनेय व अभिनेय काव्यो के शरीर शब्द और अर्थ ही हैं। इस शरीर में रस प्राण के समान है। इसीलिए कवि लोग स्वभावत रस में प्रीति रखते हैं। काव्य मे जितना रस श्लाघ्य है, उतना अर्थोत्प्रेक्षा एव शब्दोत्प्रेक्षा नहीं। नए नए अर्थ से व्युत्पन्न शब्द ग्रथन ही काव्य नही है। यदि ऐसा होने लगे तब तो तर्क और व्याकरण को भी काव्य ही की संज्ञा प्रदान की जायगी। परन्तु बात ऐसी नही है। विचित्र रस से युक्त शब्द और अर्थ के सन्निवेश को ही काव्य कहा जायगा। शुष्क कवि ही यमक एव श्लेष आदि अलङ्कारो के चक्कर मे पड़ते हैं, सरस कवि नही। सरस कवि तो रस को ही प्रधानता देते हैं[1]।

नाट्यदर्पणकार का रस-सिद्धान्त

नाट्यदर्पणकार ने स्वतन्त्र ढग से रस-विवेचना प्रस्तुत की है। इनके अनुसार काव्य नाटकादि मे दूसरे (रामादि) में रहने वाले रस की प्रतीति अन्त करणवर्तिनी होती है। अन्त करण के धर्म इन्द्रियग्राह्य नही हैं, अतएव रस की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध नही है। यह परोक्षरूप ही है। पुनश्च यह परोक्ष प्रतीति उससे अविनाभूत अन्य वस्तु के द्वारा होती हैं। रस मे इस प्रकार की अन्य वस्तु का सम्भव न होने से अनुभावादि ही रस के अविनाभूत हैं। अतएव उन्हीं के द्वारा रस-प्रतीति होती है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ अन्य सिद्धान्तों मे रस को साक्षात्कारात्मक ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है, वहाँ इन विद्वानो ने रस की परोक्षात्मक और परस्थ प्रतीति का उपपादन किया है। इन्होने रस-सिद्धान्त में कुछ सीमा तक शकुक के अनुमितिवाद का अनुसरण किया है, परन्तु इनका अनुमितिवाद भी शकुक के अनुमितिवाद से कुछ भिन्न है।

शकुक ने नटगत अनुभावादि से रस की अनुमिति मानी है, जब कि नाट्यदर्पणकार ने सामाजिकगत अनुभावादि के द्वारा रसानुमिति का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार अन्यगत (अनुकार्य राम आदि में रहने वाले) विभावादि के अनुकरण में प्रवृत्त होने वाले, दूसरे के रञ्जनार्थ प्रवृत्त

---

१ नाट्यदर्पण. पृ० १५२

नाट्यदर्पण पृ० १४२

होने वाले, नट में रस का अभाव होने पर भी स्तम्भ, स्वेद आदि अनुभाव होते हैं और यही रस के अविनाभूत होते है। क्योंकि नटगत स्तम्भ, स्वेद आदि अनुभाव सामाजिक में रहने वाले रस के जनक होने से रस के कार्य नही अपितु कारण होते हैं। नटगत स्तम्भ आदि सामाजिकगत रसों के कारण होते हैं। परोक्ष वस्तु को समझने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह उस परोक्ष अर्थ के साथ अविनाभूत लिङ्ग को निपुणतापूर्वक समझे। परगत रस का अनुमान करने के लिए परस्थ रस का अनुमान करने वाले व्यक्ति को इस विषय का सम्यक् ज्ञान होना अनिवार्य है कि किस प्रकार की मन.स्थिति में किस प्रकार के अनुभाव होते हैं। ऐसा ज्ञान होने पर ही वह सामाजिक या प्रेक्षकगत अनुभावो को देखकर उसमें शृङ्गार आदि रसों का अनुमान कर सकेगा, अन्यथा नही[1]।

इसी प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार आगे कहते हैं कि नट में भी रस की स्थिति होती है। पण्यकामिनियाँ, जो धन-लोभ से दूसरों को रति आदि का अवसर प्रदान किया करती हैं, कभी-कभी स्वयं भी आनन्दित होती हैं, और गायक, जो दूसरों के चित्त को प्रसन्न करने के लिए गाते हैं, कभी-कभी स्वयं भी आनन्द उठाया करते हैं। इसी प्रकार रामादिगत विप्रलम्भ आदि का अनुकरण करता हुआ नट भी यदा-कदा स्वयं तन्मयीभाव को प्राप्त होता है। अतएव उसमें स्थित रोमाञ्च आदि अनुभाव भी उसके भीतर रहने वाले रस का अनुमान कराते हैं[2]।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार रसो की द्विविध स्थिति है—सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक, जब कि अन्य आचार्यों ने रस को सर्वथा अलौकिक ही माना है। अन्य आचार्यों ने लोक में होने वाली स्त्री-पुरुष की परस्पर रति को 'रस' की संज्ञा नही प्रदान की है। उन आचार्यों ने काव्य, नाटक में होने वाले विभावादि को ही 'विभाव' की संज्ञा प्रदान की है। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने लौकिक स्त्री-पुरुष आदि को भी 'विभाव' आदि की संज्ञा से अभिहित किया है। इनका यह सिद्धान्त अन्य आचार्यों से विलक्षण है। इनके अनुसार स्त्री पुरुष एवं नट के शरीर में होने वाले जो रोमाञ्च आदि हैं, (वे) दूसरो के रसजनक होने के कारण विभाव के अन्तर्गत आने वाले हैं। प्रेक्षक, श्रोता एव अनुसन्धाता में होने वाले रोमाञ्च आदि रस के कार्य होते हुए रस के

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १४२

२. नाट्यदर्पण, पृ० १४२

व्यवस्थापक होते हैं। जहां विभाव तत्त्वतः विद्यमान होते हुए प्रत्येक विषय के लिए नियत स्थायीभाव को रस बनाते हैं, वहाँ होने वाला रसास्वाद नियत-विषयक उल्लेख करने वाला होता है। कोई युवक रागवती युवती को आलम्बन बनाकर उसके प्रति होने वाले रति का शृङ्गाररस के रूप मे आस्वादन करता है। यदि कोई परानुरक्ता वनिता है, तो उसका अवलम्बन करके सामान्यतः रति का उपचय हो सकता है, परन्तु वहाँ का शृङ्गार-रसास्वाद नियत-विषयक नहीं होता है। क्योंकि विभाव सामान्य विषय में स्थायी का आविर्भावक होता है। बन्धु शोक से आर्त्त एवं रुदन करती हुई स्त्री को देखकर सामान्य-विषयक ही करुण रसास्वाद होता है[1]। इसी प्रकार अन्य रसों में भी सामान्य-विषयत्व और विशेष-विषयत्व होता है। इस प्रकार लौकिक रसादि-विषयक विवेचना करने के बाद पुनः वे काव्य-नाटकगत रसो की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि काव्य और नाट्य में विभावादि वास्तविक रूप में विद्यमान नही होते हैं केवल काव्य तथा अभिनय के द्वारा समर्पित होते हैं। अतएव उनसे विशेष-विषयक रसानुभूति न होकर सामान्य-विषयक ही रसानुभूति होती है। लोक में तो रसास्वाद विशेष व्यक्तियों तक सीमित हो सकता है। उस दशा में एक व्यक्ति का रसास्वाद अन्य व्यक्ति के रसास्वाद में बाधक हो सकता है। इसके काव्य आदि में एक ही सामग्री से एक व्यक्ति को जो रसास्वाद होता है, वह उसी सामग्री से अन्यों के होने वाले रसास्वाद में बाधक नहीं होता है। इस प्रकार काव्य और लोक में दोनो जगह रसिकों के लिए साधारण रूप से रसास्वाद होता है। विभाव आदि से आविर्भूत रत्यादि स्थायीभाव के पोषक व्यभिचारी, रसिकगत रूप में ही ग्राह्य हैं। जब कि काव्यगत अथवा नटगत (स्त्री आदि के) विभावों के द्वारा अन्यों को रति आदि का रसोन्मुख रूप से उन्मीलन होता है। तब उन सामाजिकों के भीतर व्यभिचारीभाव भी प्रादुर्भूत होते हैं। स्त्र्यादि चिन्ता का शृङ्गार, धृति का हास्य, विषाद का करुण, अमर्ष का रौद्र, हर्ष का वीर, त्रास का भयानक, शङ्का का बीभत्स, औत्सुक्य का अद्भुत और निर्वेद का शान्त सहचारी के बिना प्रादुर्भूत नही होता है। क्योंकि चित्त के दूसरी ओर लगे रहने पर अथवा विरक्त चित्त को चिन्ता आदि सहचारियो के अभाव में काव्य नाटक के वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होने अथवा साक्षात् रूप में स्त्री आदि का दर्शन होने पर भी शृङ्गार रस की

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १४२

अनुभूति या उत्पत्ति नहीं होती है[1]। इसीलिए व्यभिचारी भाव रसोन्मुख स्थायीभावों के सहचारी कहलाते हैं।

व्यभिचारीभाव प्रादुर्भूत होकर के स्थायीभाव को रस बना डालता है। इसलिए रसत्व की ओर उन्मुख होने वाले जो स्थायीभाव हैं, उनके लिए व्यभिचारीभाव सहचारी होते हैं। काव्य एवं अभिनय के द्वारा उपदर्शित होने वाला स्त्री आदिगत व्यभिचारीभाव या अनुभाव दूसरों में रसोन्मुख होने के कारण स्थायीभाव को जाग्रत् करते हैं। वे सचमुच विभाव ही हो जाते हैं—जनक होने से। इस प्रकार नाट्यदर्पणकार के मत से रसानुभूति के पाँच आधार होते हैं—(१) लौकिक रूप में स्थित पुरुष, (२) नट, (३) काव्य नाटक के श्रोता, (४) अनुसन्धाता अर्थात् कवि एवं नाट्यकार, (५) सामाजिक[2]।

इनमें से प्रथम चार को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। इनके मतानुसार प्रेक्षक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक। लोक में केवल मुख्य स्त्री पुरुष में विभावों के वास्तविक होने से रस की स्पष्ट रूप से प्रतीति होती है। इसलिए उनमें रस से उत्पन्न होने वाले रस के कार्यभूत अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव स्पष्ट रूप से होते हैं। सामाजिक में अनुभाव आदि अस्पष्ट रूप से ही होते हैं। काव्यादि के द्वारा वास्तव में अविद्यमान विभावादि के ही उपस्थित किए जाने से उनके द्वारा होने वाली रस प्रतीति भी अस्पष्ट ही होती है इसलिए सामाजिक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर कहलाता है। पुनश्च अनुभव करने वाले प्रेक्षक आदि अपने भीतर रहने वाले सुख के समान, रस का आस्वादन करते हैं, न कि बहिः स्थित मोदक के समान रस का आस्वादन करते हैं[3]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्यदर्पणकार का रससिद्धान्त अन्य आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। इन्होंने गूढ़स्थलों का मौलिक रीति से

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १४३

२ तदेवं स्व-परयो प्रत्यक्ष–परोक्षाभ्या गम सुख दु खात्मा लोकस्य नटस्य काव्य श्रोत्रनुसन्धात्रोः प्रेक्षकस्य च रस । नाट्यदर्पण, पृ० १४३

३ अतएव प्रेक्षादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते । काव्यस्य च रसाविभविकविभावकत्वात् सरसत्वम्, न पुन काव्यमेव रस, काव्ये वाऽऽधारे रस । खिन्नोत्कर्षो हि चेतोवृत्तिरूप. स्थायीभावो रस । .... प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति, न पुनर्बहिस्थं रसं मोदकमिव प्रतियन्ति ।

(नाट्यदर्पण, पृ० १४३)

चिन्तन करने का प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि मौलिकता के उत्साह मे वे कहीं कही इतना बहक गए हैं कि मूलतत्त्व तक पहुचते रह जाते हैं।

रसों की सुख दु:खात्मकता

रसो की सुख दु खात्मकता के सम्बन्ध में विद्वानो के कई दल है। इनमे से अभिनवगुप्त ने शृङ्गारादि नव रसो को सुख-दु ख उभयात्मक माना है। इनके अनुसार सुखात्मक (शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत) रसो में गौण रूप से दु ख का एव दु खात्मक रसो में अर्थात् रौद्र, भयानक, करुण एव बीभत्स इन चार रसो में गौण रूप से सुख का मिश्रण रहता है। इन्होने करुण रस को अत्यन्त दु खात्मक माना है। शृङ्गार रस में विषय-भोग की प्रधानता रहती है अतएव यह रस सुखप्रधान है। परन्तु इस रस मे पाये जाने वाले विषयभोग के नाश की चिन्ता हमारे मन में सदैव बनी रहती है, इसलिए इस सुखात्मक रस में भी दु ख का किञ्चित् मिश्रण रहता है। इसी प्रकार अभिनव के मतानुसार हास्य, वीर एव अद्भुत इन तीन रसो में भी विद्युत सदृश दु ख का ईषद् सम्पर्क रहता है।

क्रोध दु खप्रधान है। हमें क्रोध दो कारणो से होता है (१) अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने से, (२) इष्ट वस्तु के न प्राप्त होने से। अनिष्ट वस्तु का सम्पर्क हमें दु ख प्रदान करता है। इस दु ख में हम उस अनिष्ट वस्तु को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। अतएव क्रोध दु खात्मक है। पुन जहाँ अभीष्ट वस्तु के न प्राप्त होने से प्राणियो में क्रोध की उत्पत्ति होती है, वहाँ उस इष्ट वस्तु के प्राप्ति की आकाक्षा एव आशा क्रोध में छिपी रहती है। अतएव रौद्र रस में किञ्चित् सुख का अनुभव भी होता है। इस प्रकार रौद्र रस भी दु ख-सुखात्मक है।

भय में दु ख की सम्भावना मात्र होती है। इसमें हम भय के कारणो से बचने का प्रयत्न करते हैं। भय के कारण से बचने पर हमे सुख की आशा रहती है। इसलिए भयानक रस में भी अल्प सुख का मिश्रण रहता है। अभिनवभारतीकार ने भय को 'निरनुसन्धिनात्कालिक दु खप्राण' कहा है।

अभिनवगुप्त ने करुण रस म त्रैकालिक दु खरूपता मानी है। इसका कारण है कि अभीष्ट वस्तु के नाश से शोक की उत्पत्ति होती है। उस शोक के समय अभीष्ट वस्तु के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले पूर्वानुभूत सुख की स्मृति होती है। परन्तु वह सुख की स्मृति दु ख के आवेग मे वृद्धि कर देती है। इसलिए करुण रस में त्रैकालिक दु खरूपता आ जाती है।

दु ख की सम्भावना मात्र से ही मनुष्य अरुचिकर विषयो से अपने मन को हटाता है। दु ख की सम्भावना ही जुगुप्सा को उत्पन्न करती है। इस जुगुप्सा के द्वारा मनुष्य अपने अनिष्ट विषयो से बचकर सन्तोष व सुख का अनुभव करता है, परन्तु यह सुख कल्पित मात्र होता है। इस कारण बीभत्स रस मे भी कल्पित सुख पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिनवभारतीकार रसो को सुख दु खात्मक मानते हैं। परन्तु इनका यह मत आगे के विद्वानो को मान्य नही है।

दशरूपक के टीकाकार धनिक को उपर्युक्त मत मान्य नहीं है। ये सभी रसो को पूर्ण सुखात्मक मानते हैं। इनके अनुसार काव्यगत करुण रस का आनन्द सुरतकालीन कुट्टमित के आनन्द के समान है, जो दु खमिश्रित होने पर भी रसिको को आनन्दित करता है। पुन काव्यगत रस लोक के करुण रस से भिन्न होता है, तभी तो सामाजिक या रसिक काव्य के पढने या नाटक के देखने मे प्रवृत्त होते है। यदि काव्यगत करुण रस भी लौकिक करुण रस के समान दु खात्मक ही होता, तब तो करुणरसप्रधान रामायण आदि काव्यो का लोप ही हो जाता। इसलिए यह सुतरा सिद्ध है कि करुण रस भी पूर्णतया सुखात्मक है। रही अश्रुपात आदि की बात, वह तो जैसे कोई लौकिक दु ख का अनुभव करके आँसू गिराता है, वैसे ही काव्य को सुनकर सामाजिक दु खानुभव के उपरान्त आँसू गिराता है[1]। इन सब बातो से धनिक ने स्पष्ट कर दिया है कि करुणादि रस भी शृङ्गारादि रसो की तरह पूणतया सुखात्मक हैं।

इसी आधार पर **साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ** ने भी करुण रस की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि सहृदयो का अनुभव ही इस विषय में प्रमाण है। करुण आदि रसों में भी परम आनन्द की प्राप्ति होती है यदि इसके विपरीत यह माना जाय कि करुण आदि रसो से दु ख ही प्राप्त

---

१ ' तादृश एवासावानन्दः सुखदु खात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थाया कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुण, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकाना प्रवृत्तय। यदि च लौकिक करुणवद्दु खात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, तत करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव। (दशरूपक, चतुर्थप्रकाश, ४४ वी कारिका की टीका)

होता है, तब तो रामायण आदि महाकाव्य दु:ख के हेतु बन जायेंगे[1]। इसलिए करुण रस आनन्दात्मक है। लोक में सीता-वनवास आदि दु:ख के कारण भले ही हों परन्तु काव्य में वे लौकिक कारण के स्थान पर अलौकिक विभाव बन जाते हैं। अतएव उनसे सुख की उत्पत्ति मानने में क्षति ही क्या है[2]?

विश्वनाथ का मत है कि अश्रुपातादि के आधार पर करुण रस को दु:खात्मक नहीं मानना चाहिए। अत्यधिक आनन्द होने पर भी अश्रुपात होने लगता है। हर्षातिरेक के कारण भी हृदय द्रवीभूत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वनाथ भी धनिक के ही मत को मानने वाले हैं।

अब तक हम देख आए हैं कि विश्वनाथ व धनिक समस्त रसों को पूर्ण सुखात्मक मानते हैं एवं अभिनवगुप्त केवल शान्त रस के अतिरिक्त सभी रसों को सुख-दु:खात्मक मानते हैं। इसके विपरीत नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र कुछ रसों को केवल सुखात्मक एवं कुछ रसों को केवल दु:खात्मक मानते हैं। इनके अनुसार शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत एवं शान्त रस की उत्पत्ति इष्ट विभावादि से होती है, अतएव ये पांच रस पूर्ण सुखात्मक हैं।[3] इसी प्रकार अनिष्ट विभाव से करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक इन चार रसों की उत्पत्ति होती है। अतएव ये समस्त रस पूर्णतया दु:खात्मक हैं। जो विद्वान सभी रसों को पूर्णतया सुखात्मक मानते हैं, उनका मत संगत नहीं है। भयानक आदि रस दु:खात्मक ही हैं, सुखात्मक नहीं। यदि ये सुखात्मक होते तो सामाजिक गण इनसे उद्वेजित न होते। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता

---

१. करुणादावपि रसे जायते यत् परंसुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दु:खं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥
(साहित्यदर्पण, सू० ५०, पृ० ७७, ७८)

२. हेतुत्वं हर्षशोकादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्वं गतेभ्यः काव्यसंश्रयात्।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥
(साहित्यदर्पण, सू० ५०, पृ० ७९)

३ ·····तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गार-हास्य-वीराद्भुतशान्ताः पञ्च सुखात्मनो·····। (नाट्यदर्पण, पृ० १४१)

है। लोक में तो सिंह आदि को देखने से भय के कारण व्यक्ति क्लेशयुक्त हो ही जाते हैं, काव्य-नाटक में भी अभिनय में प्राप्त विभावों से उत्पन्न भयानक, बीभत्स, करुण या रौद्र रस का आस्वादन करने वाले सहृदय में अनिर्वचनीय दुःख की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए भयानक आदि रसों से सामाजिक उद्वेजित हो जाते हैं।[1] कवि और नट के कौशल से ही इन भयानक आदि रसों के अभिनय में चमत्कार प्रतीत होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। यह चमत्कार अभिनय के समाप्त हो जाने पर नहीं रहा करता। जैसे किसी के सिर का उच्छेद करने वाले वैरी की प्रहार-कुशलता को देखकर वीरों को विस्मय होता है, उसी प्रकार भयानक आदि रसों के विभावादि के दर्शन से भी विस्मय आदि की उत्पत्ति होती है। कवि एवं नटशक्ति से उत्पन्न चमत्कार से दुःखात्मक रसों में भी सहृदय आनन्दित होने लगते हैं।[2] कवि लोग तो सुख-दुःखात्मक संसार के अनुरूप ही रामादि के चरित का सुख-दुःखात्मक रूप में ही निबन्धन करते हैं। अतएव नाटक में भयानक आदि रसों को दुःखात्मक ही मानना चाहिए। दुःखात्मक करुण आदि रसों में सहृदय को सुखानुभव क्यों होता है? वे इसमें क्यों प्रवृत्त होते हैं? इसका स्पष्टरूपेण एक उत्तर यह है कि जिस प्रकार पानक आदि के पान करते समय मिर्च का तीक्ष्ण रसास्वाद भी पानक के माधुर्य में विशेषता उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार दुःखात्मक करुण आदि रसों में आनन्द का अनुभव प्राप्त होता है। परन्तु वे वास्तव में सुखरूप नहीं है। क्योंकि सीता-हरण, द्रौपदी का केशाकर्षण, हरिश्चन्द्र का दासत्व, रोहिताश्व-मरण एवं मालती के व्यापादन के आरम्भ आदि को देखकर सहृदयों को हार्दिक सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि करुण आदि रस अनुकार्य रामादि में वास्तविक दुःख के कारण ही थे। यदि इनको अभिनय में सुखात्मक कहा जाय तो अभिनय यथार्थ अनुकरण नहीं हो पायेगा। इसलिए करुण आदि

---

१ आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः (नाट्यदर्पण, पृ० १४१)

२ यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि-नट-शक्ति कौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहार कुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कवि नट-शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। (नाट्यदर्पण, पृ० १४१)

को सुखात्मक मानना उचित नहीं है। इष्ट आदि के विनाश से उत्पन्न करुण रस में अभिनय के समय जो सुखास्वाद होता है, वह भी परमार्थतः दुःखास्वाद ही है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि फिर आप विप्रलम्भ श्रृंगार को दुःखात्मक क्यों नहीं मानते ? इसका एक सीधा सा उत्तर है कि दुःखरूप विप्रलम्भ श्रृंगार के गर्भ में सम्भोग एवं सुख की आशा वर्तमान रहती है। अतएव विप्रलम्भ श्रृंगार सुखात्मक है।

आधुनिक भारतीय विचारक डा० राकेशगुप्त ने करुण की आनन्दात्मकता का तिरस्कार किया है। इनके अनुसार किसी के दुःख से मनुष्य को आनन्द नहीं आता। काव्य का श्रवणादि मनुष्य इसलिए करता है क्योंकि इसके अध्ययन आदि में उसकी स्वाभाविक रुचि है। पुनश्च यदि काव्य से आनन्द ही प्राप्त हुआ करता तो एक चिकित्सक हृदय रोग से पीडित व्यक्तिको करुणायुक्त नाटक आदि देखने को मना क्यों करता[1]।

परन्तु उपर्युक्त मत संगत नहीं है क्योंकि इनके द्वारा प्रतिपादित रुचि-सिद्धान्त हमारे शास्त्रों के तन्मयीभाव सिद्धान्त की समता नहीं करता। रुचि और आनन्द में परस्पर भेद है। ये एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं। रुचि आनन्दोपलब्धि का साधन मात्र है।

जान ड्राइडेन के अनुसार दुःखान्तकी का प्रधान ध्येय हमें सन्मार्ग पर लगाना है। इनके अनुसार दुःखात्मक नाटक में महान् लोगो के कार्यों और उनके अपराधों के फलस्वरूप दण्ड और यातना को हमारे समक्ष रखकर नाटककार हमें अच्छे मार्गपर लगाता है। पुनश्च महान् पुरुष को भी अभाग्यवश कष्ट सहते हुए देखकर हमारे हृदय में दया का सञ्चार होता है और अकारण ही उस व्यक्ति के प्रति हमारी समस्त सहानुभूति जागृत् हो जाती है[2]। ड्राइडन का उपर्युक्त विचार ध्येयवाद सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

आइ-ए० रिचर्ड्स महोदय के अनुसार दुःखान्तक नाटक में अनुकम्पा और भय इन दोनों का सम्मिलन रहता है। इन विरोधी भावों के सम्मिलन से मन एक प्रकार के हल्केपन अथवा उन्मुक्त भाव का, संतुलन अथवा स्वस्थता का अनुभव करता है सन्तुलन ही हमारे आनन्द का कारण है[3]। परन्तु इनका यह सिद्धान्त व्यापक नहीं है। इन्होंने स्वयं इसके अपवादों का उल्लेख किया है। पुनश्च समस्त दुःखात्मक नाटकों मे यह आवश्यक नहीं है कि दोनों भावों की समकालिक सिद्धि हो।

---

१. साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस-पृ० ८०-८१

२. ऐन एसे आन ड्रमैटिक पोयेजी।

३. कोलरिज आन इमेजिनेशन।

सहृदयों के मन में शङ्का या सन्देह उत्पन्न करने वाला कर्म अनौचित्य कहलाता है। वह अनेक प्रकार का हो सकता है। वह कहीं (१) (अ) प्रकृत रस-विरुद्ध विभाव आदि का निबन्धन रूप होता है। यथा "तुम लोग मान को छोड़ो। विग्रह निष्प्रयोजन है। यह युवावस्था फिर नहीं आती है इस प्रकार स्मर का अभिप्राय कोकिलाओं द्वारा निवेदित किये जाने पर नायिकाएं अपना मान छोड़कर अपने नायक के साथ रमण करने लगी[1]।" यहाँ प्रकृत-रस शृंगार है। उसके विरुद्ध शान्त रस का विभाव—अवस्था की अनित्यता—का वर्णन किया गया है।

(ब) कहीं बिना अवसर के रस का विस्तृत रूप से वर्णन करना भी रस-दोष है। यथा 'वेणीसंहार' में जहाँ भीष्म आदि प्रमुख वीरों के मरण का प्रसङ्ग है, वहाँ धीरोद्धत दुर्योधन का भानुमती के प्रति शृंगार का वर्णन।

(स) कहीं अनवसर में रस-विच्छेद कर देना रस-दोष होता है। यथा 'महावीरचरित' में जहाँ राम और परशुराम का युद्धोत्साह व्यक्त हो रहा है, 'कङ्कणमोचन के लिए जा रहा हूँ'—रामचन्द्र की उक्ति अकाण्ड में रस का विच्छेदक होने से रसदोष है।

(द) उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के विपरीत वर्णन करना दोष है। यथा उत्तम प्रकृति में हास्य, बीभत्स, करुण, भयानक और अद्भुत आदि रसों का प्रकर्ष रूप से निबन्धन, मध्यम और अधम प्रकृति में शुद्ध शृङ्गार, वीर, रौद्र एवं शान्त रस का प्रकर्ष रूप से निबन्धन, उत्तम दिव्य प्रकृति में संभोग शृङ्गार का वर्णन अपने माता-पिता के शृङ्गार रस के वर्णन के समान होने से अनुचित है। अदिव्य उत्तम प्रकृति में अविलम्ब रूप से फल देने वाले क्रोध-स्वर्ग-गमन, पाताल-गमन एवं समुद्रलङ्घनादि के उत्साह का वर्णन अनुचित है। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरशान्त रूप उत्तम प्रकृति में वीर, रौद्र, शृङ्गार एवं शान्त रस का वर्णन न करना अथवा विपरीत रस का वर्णन करना रसदोष है। मध्यम और अधम प्रकृति में वीर आदि रस का प्रकर्ष रूप से वर्णन करना भी रसदोष है।

(य) कहीं-कहीं वर्णों तथा समासों का विपरीत निबन्धन रसदोष है। शृङ्गार रस में सुकुमार वर्णों का प्रयोग करना चाहिए एवं वीर और रौद्र आदि रसों में कठोर वर्ण (ट, ठ, ड, ढ) आदिका प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार समास आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए। वय, वेष, देश, काल और अवस्था आदि का अन्यथा वर्णन अनुचित है। यमक, श्लेष एवं चित्र आदि अलङ्कारों

१. रघुवंश, ९-४७

ए. निकोल महोदय के अनुसार दु खान्त नाटकों में प्रयुक्त पद्य की लय ही आनन्द का कारण है[१]। परन्तु इनका यह मत नितान्त उपेक्षणीय है क्योंकि लय तथा संगीत प्रस्तुत भाव को परिवर्तित नही करते हैं, विवर्धित करते हैं।

उपर्युक्त मतों की परीक्षा करने से विदित होता है कि यूरोपीय विद्वानों का मत भारतीय मत के समान दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित नहीं है। उनके सिद्धान्त एकाङ्गी हैं और वे सीमित दृष्टि को ही प्रस्तुत कर सके हैं। अतएव वे आत्मा के आनन्द स्वरूप का उद्घाटन न कर सके। यूरोपीय विद्वानों द्वारा मान्य उद्वेग और शमन, विशुद्धीकरण अथवा सामजस्य के द्वारा भी हमे सुख का अनुभव तो होता है किन्तु वह सुख आत्मोपलब्धि के आनन्द के समान नही कहला सकता है। आत्मा की सहज आनन्दरूपता मे विश्वास रखे बिना रस-जन्य आनन्द के रहस्य का उद्घाटन नहीं किया जा सकता है। आत्मा की आनन्दरूपता के प्रति विश्वास करने से करुण रस से भी आनन्द की उपलब्धि का वास्तविक रहस्य समझा जा सकता है। विघ्न-विनिर्मुक्ति आत्मविश्रान्ति की जनक है। आत्मविश्रान्ति ही सच्चा सुख है। इसलिए यदि दु ख का अनुभव भी विश्रान्तिभाव से किया जायगा, तो उसे सुख ही कहा जायगा।

जब हम वास्तविक जगत् से दूर होकर, केवल भाव-लोक मे, करुण आदि का रसास्वादन करते हैं तो अन्तर्भावात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ये आवेग हमे तन्मय बना देते है। इससे चर्वणा और लयात्मक सुख अथवा आत्मविस्मृति का सञ्चार होता है और जीवन की प्रतिकूल वेदनाएं भी हमारे लिए आनन्द का स्रोत बन जाती हैं। करुण आदि रसो के अनुभव से आवेगो का वेग-निरसन होता है। इसीलिए रसास्वादन मे प्रतिकूल वेदनाएं भी परम आनन्द को ही उत्पन्न करती हैं। रसास्वादन की क्रिया द्वारा भय आदि आवेगो से उत्पन्न प्रतिकूल वेदनाएं भी रूपान्तरित होकर केवल आनन्द उत्पन्न करती हैं।

रस-दोष

नाट्यदर्पणकार ने पाच प्रकार के रस-दोष बताये हैं—(१) अनौचित्य (२) अङ्गों की उग्रता (३) मुख्य रस की पुष्टि का अभाव (४) मुख्य रस का भी आवश्यकता से अधिक विस्तार (५) प्रधान रस को भुला देना[२]।

---

१. द थियरी ऑफ ड्रामा।

२. दोषोऽनौचित्यमङ्गोग्रयम्, अपोषोऽत्युक्तिरङ्गिभित् ॥

(नाट्यदर्पण, पृ० १५४)

सहृदयों के मन में शङ्का या सन्देह उत्पन्न करने वाला कर्म अनौचित्य कहलाता है। वह अनेक प्रकार का हो सकता है। वह कहीं (१) (अ) प्रकृत रस-विरुद्ध विभाव आदि का निबन्धन रूप होता है। यथा "तुम लोग मान को छोड़ो। विग्रह निष्प्रयोजन है। यह युवावस्था फिर नहीं आती है इस प्रकार स्मर का अभिप्राय कोकिलाओं द्वारा निवेदित किये जाने पर नायिकाएं अपना मान छोड़कर अपने नायक के साथ रमण करने लगीं[1]।" यहाँ प्रकृत-रस शृंगार है। उसके विरुद्ध शान्त रस का विभाव—अवस्था की अनित्यता—का वर्णन किया गया है।

(ब) कहीं बिना अवसर के रस का विस्तृत रूप से वर्णन करना भी रस-दोष है। यथा 'वेणीसंहार' में जहाँ भीष्म आदि प्रमुख वीरों के मरण का प्रसङ्ग है, वहाँ धीरोद्धत दुर्योधन का भानुमती के प्रति शृंगार का वर्णन।

(स) कहीं अनवसर में रस-विच्छेद कर देना रस-दोष होता है। यथा 'महावीरचरित' मे जहाँ राम और परशुराम का युद्धोत्साह व्यक्त हो रहा है, 'कङ्कणमोचन के लिए जा रहा हूँ'—रामचन्द्र की उक्ति अकाण्ड में रस का विच्छेदक होने से रसदोष है।

(द) उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के विपरीत वर्णन करना दोष है। यथा उत्तम प्रकृति में हास्य, बीभत्स, करुण, भयानक और अद्भुत आदि रसों का प्रकर्ष रूप से निबन्धन, मध्यम और अधम प्रकृति मे शुद्ध शृङ्गार, वीर, रौद्र एवं शान्त रस का प्रकर्ष रूप से निबन्धन, उत्तम दिव्य प्रकृति में संभोग शृङ्गार का वर्णन अपने माता-पिता के शृङ्गार रस के वर्णन के समान होने से अनुचित है। अदिव्य उत्तम प्रकृति में अविलम्ब रूप से फल देने वाले क्रोध-स्वर्ग-गमन, पाताल-गमन एवं समुद्रलङ्घनादि के उत्साह का वर्णन अनुचित है। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरशान्त रूप उत्तम प्रकृति में वीर, रौद्र, शृङ्गार एवं शान्त रस का वर्णन न करना अथवा विपरीत रस का वर्णन करना रसदोष है। मध्यम और अधम प्रकृति मे वीर आदि रस का प्रकर्ष रूप से वर्णन करना भी रसदोष है।

(य) कहीं-कहीं वर्णों तथा समासों का विपरीत निबन्धन रसदोष है। शृङ्गार रस में सुकुमार वर्णों का प्रयोग करना चाहिए एवं वीर और रौद्र आदि रसों में कठोर वर्ण (ट, ठ, ड, ढ) आदिका प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार समास आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए। वय, वेप, देश, काल और अवस्था आदि का अन्यथा वर्णन अनुचित है। यमक, श्लेष एवं चित्र आदि अलङ्कारों

---

१. रघुवंश, ९-४७

का एवं ऋतु, समुद्र, चन्द्रोदय और सूर्योदय आदि का विस्तृत रूप से वर्णन रस के लिए उपयुक्त नही है। कही उत्तम प्रकृति के नायक की उत्तम नायिका के प्रति व्यभिचार सम्भावना भी अनौचित्य मानी जाती है क्योकि उत्तम प्रकृति की नायिका मे इस प्रकार के दोष की सम्भावना भी नहीं करनी चाहिए। कही नायिका के पादप्रहारादि से नायक के कोप का वर्णन रसदोष है।

(२) अप्रधान रस का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन करना रसदोष है। यथा 'कृत्यारावण' मे जटायुवध, लक्ष्मण के शक्ति लगने और सीता की विपत्ति सुनने पर बार-बार राम का करुणाधिक्य। मम्मटकृत काव्यप्रकाश मे इस दोष का 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृति' नाम से उल्लेख हुआ है।[1] पुनश्च काव्यप्रकाशकार ने 'अङ्गस्याप्रधानस्य, अतिविस्तरेण वर्णने यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य' लिखकर प्रतिनायक रूप हयग्रीव के अतिविस्तृत वर्णन को इसके उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। किन्तु नाट्यदर्पणकार मम्मट के इस विचार से सहमत नही हैं। इन्होने इसका खण्डन करते हुए इसे कथाभाग का दोष माना है, रसदोष नहीं।[2] इनके विचार से रस की दृष्टि से तो यह दोष न होकर गुण ही है। प्रतिपक्षी का अत्यन्त उत्कर्ष दिखाकर नायक द्वारा उसका वध कराने मे तो नायक का उत्कर्ष ही बढ़ता है। इसलिए इस दृष्टि से यह दोष नहीं अपितु गुण ही है। नाट्यदर्पणकार का ही मत वस्तुत संगत है।

(३) प्रकृत रस की धारा का अधिरोहण न हो पाना अपोष नामक रसदोष है। यथा

"बीभत्सा विषया जुगुप्सित तम कायो, वयो गत्वरम्,
प्रायो बन्धुभिरध्वनीव पथिकैर्योगो वियोगावह।
हातव्योऽयमसम्भवाय विरस संसार इत्यादिकम्,
सर्वस्यापि हि वाचि, चेतसि पुन. कस्यापि पुण्यात्मनः॥"

उपर्युक्त श्लोक मे 'वाचि' शब्द को उपनिबद्ध कर देने से प्रकृत रस का धाराधिरोहण नहीं हो सका है क्योकि विषय व बीभत्सता आदि शान्त रस को उत्पन्न करने मे अक्षम एवं मन्द पड गए। यदि 'वाचि' शब्द का उपनिबन्धन न किया जाता तो सर्वसाधारण के चित्त मे भी प्रकृत रस का प्रादुर्भाव होता।

(४) धाराधिरूढ भी रस का बार-बार उद्दीपन करना अत्युक्ति नामक रसदोष है यथा कुमारसम्भव में रति-प्रलाप।

---

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, कारिका ६१
२. नाट्यदर्पण, पृ० १५५

(५) अनेक रसों से युक्त प्रबन्ध में प्रधान रस का विस्मरण भी अङ्गभित् रसदोष है। क्योंकि प्रधान रस को भी भुला देने पर तो इसका परिपोष ही नहीं हो सकता है। 'रत्नावली' के चतुर्थ अङ्क मे बाभ्रव्य के आगमन से सागरिका की विस्मृति इसका अच्छा उदाहरण है।

इन सब दोषो के अतिरिक्त मम्मट आदि विद्वानो ने अन्य भी रसदोषो का उल्लेख किया है, जिन पर हमे विचार कर लेना है। मम्मट ने रसदोषों के निरूपण के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश मे 'व्यभिचारि-रस-स्यायिना स्वशब्द वाच्यम्' को सर्वप्रथम रस दोष माना है, किन्तु नाट्यदर्पणकार मम्मट के इस विचार से सहमत नही हैं[1]। वास्तव मे इस दोष की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्पष्ट करना ही है। जहाँ विभावादि सामग्री अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप मे प्रस्तुत की जाय अथवा इनका सर्वथा अभाव ही हो, वहाँ यदि श्रृगार, रति एव लज्जा आदि शब्दो के माध्यम से कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाय, तो ऐसा कथन न तो सरस ही होगा और न काव्यत्व की किसी कोटि मे ही आयेगा।

पुनः इसी प्रकार मम्मट ने काव्यप्रकाश में 'कष्टकल्पनयाव्यक्तिरनुभाव-विभावयोः को भी रसदोष माना है किन्तु नाट्यदर्पणकार का मत इस विषय मे भी मम्मट से भिन्न है[2]। इन विद्वानो ने इसे 'सन्दिग्ध' नामक वाक्यदोष माना है। यही मत अधिक संङ्गत है क्योंकि विभावादि तो रस-सिद्धि के लिए साधन है। यथा—

"परिहरति रतिं मतिं लुनीते, स्खलतितरां परिवर्तते च भूय.।
इति बत विषमा दशा स्वदेह, परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्म"॥

उपर्युक्त श्लोक मे रस का निर्णय सन्दिग्ध रह जाने के कारण इसे सन्दिग्ध दोष ही मानना चाहिए किन्तु रसगत नहीं। निष्कर्षत रामचन्द्र, गुणचन्द्र की यह धारणा कि यहाँ सन्दिग्ध वाक्यदोष है, आंशिक रूप से ही सत्य है।

इस प्रकार मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' मे जिन रसदोषो का वर्णन किया है, नाट्यदर्पणकार ने उसमे से तीन का बिल्कुल खण्डन कर दिया और चार को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और एक को उदाहरण मे परिवर्तित करते हुए स्वीकार कर लिया है।

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १५६
२, नाट्यदर्पण, पृ० १५६

रस-विरोध

साहित्यशास्त्र में जिन शृङ्गारादि नव रसों का वर्णन किया गया है, इनमें कुछ रसों का परस्पर विरोध माना जाता है। वे विरोध निम्न हैं—

एक ही आश्रय में परस्पर विरुद्ध रसों का पाया जाना विरोध है, भिन्न-भिन्न आश्रय में नहीं। यथा वीर तथा भयानक रसों का आश्रयैक्य में विरोध माना गया है क्योंकि जिस व्यक्ति में वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है, उसी समय उसी व्यक्ति में भय की भी उत्पत्ति हो, यह सम्भव नहीं। इसलिए वीर तथा भयानक रस का विरोध आश्रय के एक होने के कारण होता है। इन दोनों रस का आश्रय भिन्न-भिन्न रखना चाहिए। यथा 'अर्जुन चरित' में—

"अर्जुन के धनुष की भयावह ध्वनि को सुनकर इन्द्र के शत्रु नगर में खलबली मच गई[1]।" उपर्युक्त स्थल में विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। यह नायकगत वीर रस के साथ प्रतिनायकगत भयानक रस का वर्णन किया गया है। अत आश्रय-भेद हो जाने से न केवल विरोध ही समाप्त हो जाता है, अपितु उससे नायकगत वीर रस की पुष्टि होती है।

दो स्वतन्त्र विरुद्ध रसों का एक साथ निबन्धन विरोध है, न कि अङ्ग और अङ्गीभाव के निबन्धन में अथवा मुख्य रस और मुख्य रस के वशीभूत रस के वर्णन में। यथा निम्न श्लोक में—

"यह वही हाथ है जो रसना को खींचता रहा, पीन स्तनों का मर्दन करता रहा, नाभि, ऊरु और जघाओं का स्पर्श करता रहा, नीवी-बन्धन को खोलता रहा[2]।" यहाँ भूरिश्रवा की स्त्री का, सग्राम में पड़े हुए भूरिश्रवा के बाहु को देखकर, करुण क्रन्दन वर्णित है। यहाँ शृंगार के अनुभावों का स्मरण दशा में जो वर्णन है, उससे करुण का विरोध होना तो दूर रहे, अपितु करुण रस की परिपुष्टि हो रही है।

एक आश्रय के होने पर भी तुल्य बलयुक्त रसों का ही विरोध है, हीन

---

१. समुत्थिते धनुर्ध्वनौ, भयावहे किरीटिन. ।
महानुपप्लवोऽभवत्, पुरे पुरन्दरद्विषाम् ॥

२ अयं स रसनोत्कर्षी, पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरु-जघनस्पर्शी, नीवीविस्रंसन कर ॥
(महाभारत, स्त्रीपर्व, अ० २४,१९)

एव अधिकबलयुक्त रस का विरोध नही है[1] यथा 'विक्रमेर्वशीयम्' के चतुर्थ अङ्क में—

"कहाँ यह अनुचित कार्य एव कहाँ चन्द्रवश ? क्या वह पुनः देखने के लिए मिलेगी। इन दोषो की शान्ति के लिए मेरे शास्त्रज्ञान यहाँ आओ। क्रोध में भी उसका मुख कितना सुन्दर था। अरे! सभ्य पुरुष मुझको क्या कहेगे ? वह तो स्वप्न मे भी दुर्लभ है। मेरे चित्त! स्वस्थ हो। पता नही वह कौन है, जो उसका अधर-पान करेगा।" यहाँ श्रृङ्गार और शान्त का विरोध नही है। क्योंकि शान्त अल्प बलशाली है। अतएव शान्त की शृङ्गार मे ही विश्रान्ति है।

जिन रसो का नैरन्तर्येण विरोध है, उनके बीच मे किसी अन्य अविरोधी रस का समावेश कर देने से उनके विरोध का परिहार हो जाता है[2]। यथा 'नागानन्द' नाटक मे शान्त रस के आश्रय जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है। किन्तु शान्त और श्रृङ्गार के मध्य मे 'अहो गीतमहो! वादित्रम्' आदि से अद्भुत रस को प्रस्तुत करके उस विरोध को दूर कर दिया गया है।

अन्त मे हम इतना ही कहेगे कि काव्य मे वर्णन के अनुसार रस-परिपाक करने में अत्यधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है। इनके विरोध-परिहार का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए।

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १५३

२ नाट्यदर्पण, पृ० १५४

षष्ठ अध्यायः

रस-भेद

रस के कितने भेद हैं—इस विषय पर विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। संस्कृत भाषा के अनेक प्रतिभाशाली कवियों तथा रीतिग्रन्थकारों ने रसों की संख्या एक से लेकर चौदह तक बताई है। महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में रसों की संख्या आठ ही बतायी है।

"मुनिना भरतेन य प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुता द्रष्टुमनाः सलोकपाल ॥"[1]

वररुचि की 'उभयाभिसारिका' में भी रसों की संख्या का उल्लेख है। उसमें भी आठ ही रस बताए गए हैं। दण्डी ने भी आठ ही रसों का उल्लेख किया है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि दण्डी के काल तक रसों की संख्या आठ ही मानी जाती थी।

भरतनाट्यशास्त्र में रसों की संख्या आठ ही गिनायी गई है और उनके आठ ही स्थायीभाव भी बताए गए हैं[2]। आगे चलकर जब विद्वानों ने 'शान्त' को भी रस स्वीकार कर लिया, तब नाट्यशास्त्र की कारिका मे परिवर्तन कर दिया गया और उसका निम्न स्वरूप उपस्थित किया गया—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानका।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृता ॥

उद्‌भट प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने नाट्य मे रसों की संख्या नव बताई है और इसके लिए उन्होंने नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त संशोधित कारिका को उद्धृत किया है।

वे विद्वान जिन्हें शान्त रस मान्य नहीं है, अपने पक्ष के समर्थन में कई तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे शान्त रस का उल्लेख ही नहीं किया है। उन्हें यदि यह रस अभिप्रेत होता तो

---

१. विक्रमोर्वशीयम्, द्वितीय अङ्क, १८

२. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञाश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
(नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, १५)

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥
(ना० शा०, ष० अ०, १७)

उनके द्वारा इसका उल्लेख अवश्य किया जाता। इस तर्क को खण्डित करने के लिए विद्वानों ने नाट्यशास्त्र की निम्न पंक्तियों का आश्रय लिया है।

(अ) क्वचित् धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः[1]।

(ब) दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति[2]॥

अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से 'शान्त' को नवां रस सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार 'क्वचित् शम.' इस बात का सूचक है कि भरतमुनि को भी शान्तरस अभिप्रेत था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शान्त रस के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। पुनश्च जिन विद्वानों को शान्त रस मान्य नहीं है, वे इसका कई ढंग से निषेध करते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार शान्तरस का अस्तित्व ही नहीं है। कुछ विद्वान शान्त रस की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु नाटक में इसके अस्तित्व को अङ्गीकार नहीं करते हैं क्योंकि शान्त रस अनभिनेय है। कुछ शान्त रस के विरोधी विद्वानों के मतानुसार नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में भरत ने डिम को शृङ्गार तथा हास्य से हीन षट्रसलक्षणों से युक्त कहा है[3], जिससे स्पष्ट है कि भरत आठ ही रस मानने के पक्ष में थे। परन्तु अभिनवगुप्त ने इस उपर्युक्त मत का भी अत्यन्त औचित्यपूर्ण खण्डन कर दिया है[4]। इनके अनुसार 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' का अर्थ है कि 'दीप्ति' की स्वीकृति के कारण 'डिम' में रौद्र रस की प्रधानता रहती है। रौद्र एवं शान्त के परस्पर विरोधी होने के कारण 'डिम' में शान्त रस का उल्लेख भरतमुनि द्वारा नहीं किया गया। शृंगार तथा हास्य के साथ रौद्र रस का उतना तीव्र विरोध नहीं है जितना कि शान्त रस का रौद्र रस के साथ विरोध है। अतएव शृङ्गार तथा हास्य का प्रयोग डिम में न किया जाय, इसलिए उन्होंने इन्हीं का उल्लेख किया। भरत को शान्त रस अमान्य था, यह अर्थ लगाना असंगत है।

दूसरे विद्वान शान्त रस का वास्तविक अभाव मानते हैं। इनके अनुसार व्यावहारिक क्षेत्र में भी शम का कोई अस्तित्व नहीं है। इनका तर्क है कि संसार में व्यक्ति के रागद्वेष का नाश होने पर ही शान्त रस की स्थिति

---

१. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, १०४

२. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, ११२

३. षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः। (नाट्यशास्त्र, अध्याय २०।८८)
शृङ्गारहास्यवर्जैः शेषैरन्यैः समायुक्तः। (नाट्यशास्त्र, अध्याय २०।८९)

४. अभिनव भारती, प्रथम भाग, पृ० ३४१

स्वीकार की जा सकती है। परन्तु राग तथा द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति हो नही सकती है। अत शान्त रस का परिपोष भी नही किया जा सकता है। परन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उपर्युक्त मत का भी अत्यन्त चातुर्य के साथ खण्डन कर दिया है[1]। इनके अनुसार भक्त दो प्रकार के होते हैं–वियुक्त एव मुक्त-वियुक्त। योग-सिद्धि हो जाने के कारण वियुक्त योगी को समस्त प्रकार के ज्ञान अत करण मे ही भासित हुआ करते हैं। मुक्त वियुक्त योगी को अन्तीन्द्रिय विषयो का ज्ञान रहा करता है। इन योगियो को इसी जीवन मे पूर्ण शान्ति उपलब्ध हो जाती है। अत ऐसे लोगो को शान्त रस का परिपोष होता है।

कुछ विद्वान शान्त को अलग से रस मानने के पक्ष मे नही हैं। इनके अनुसार शम को बीभत्स आदि में अन्तर्भावित किया जा सकता है। यथा ससार के प्रति घृणा, जो शम का एक तत्त्व है, बीभत्स के अन्तर्गत आ जाता है। इस तरह इनके अनुसार शान्त की अलग से स्थिति ही नही है। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'अवलोक' टीका मे लिखा है कि अभिनय न हो सकने के कारण शम स्थायी स्वरूप शान्त रस की स्थिति नाटक मे स्वीकार नही की जा सकती है। नाटक आदि रूपको मे अभिनय की प्रधानता है। अभिनय ही नाटको की आत्मा है। अत अभिनयपरक रूपको मे 'शम' को मानना उचित नही है। इसका एक विशेष कारण यह है कि 'शम' मे समस्त लौकिक प्रक्रियाओ का लोप हो जाता है। इस प्रकार की अवस्था अनभिनेय है, अत नाटक मे 'शम' मान्य नहीं है। परन्तु यह मत भी सगत नही है क्योंकि लौकिक प्रक्रिया का लोप शान्त का स्वरूप नही है। चेष्टाओ का शमन तो पराकाष्ठा है, पर्यन्तभूमि है जिसका मञ्च पर अभिनय नहीं किया जा सकता है। इस बाधा का सामना केवल शान्त रस को ही नही, अपितु सभी रसों को करना पडता है। पर्यन्त दशा मे रति और शोक आदि का भी अनभिनेयत्व ही उचित होता है अर्थात सम्भोग शृङ्गार आदि की भी चरम परिणति व्यापारशून्यता मे ही होती है। अतएव जब शृङ्गार आदि को रस माना जाता है, तब शान्त को भी रस क्यों न माना जाय ? अभिनेता की दृष्टि से भी शान्त रस को अङ्गीकार करने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती है क्योंकि अभिनेता अभिनय मे लिप्त नहीं रहा करता है।

---

१ युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो य शम स एव यत रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादि स्थितिश्च न विरुद्धा। (साहित्यदर्पण, ३।२५०)

लोक मे जैसे धर्म, अर्थ एव काम तीन पुरुषार्थ माने जाते हैं, उसी प्रकार स्मृतियो के अनुसार मोक्ष भी चौथा पुरुषार्थ है, जिसकी प्राप्ति उपायों के द्वारा सम्भव है। कामादि पुरुषार्थों के अनुरूप रत्यादि चित्तवृत्तियाँ कवियों और नटो के व्यापार से सहृदयो के लिए आस्वाद्य होकर श्रृङ्गारादि रस के रूप मे अनुभूत होती हैं। इसी प्रकार मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की साधक शमरूप चित्तवृत्ति भी कवि और नट के व्यापार द्वारा आस्वाद्य होकर रसत्व को प्राप्त होती है। इसलिए भी शान्त रस अवश्य ही मानना पडेगा। 'शान्त रस काव्य के लिए ही उपयुक्त है, नाट्य के लिए नहीं'—इस सिद्धान्त का भी उद्भट आदि विद्वानों ने खण्डन कर दिया है। नाट्यदर्पणकार इसी विचार-धारा के विद्वान हैं। इन विद्वानो के अनुसार शान्त रस अभिनेय भी है[1]।

शान्त रस के विषय में अनेक मत-मतान्तर हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार रति आदि आठ स्थायीभावो मे से किसी एक को शान्त रस का स्थायीभाव माना जा सकता है। यथा स्त्री-पुरुष रूप आदि आलम्बन विभावों से जो रति स्थायी भाव जहाँ श्रृङ्गार रस को उत्पन्न करता है, वही रति स्थायी भाव अध्यात्मचर्चा आदि विभावो से परिपोष को प्राप्त कर शान्त रस को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार हास आदि अन्य स्थायी भाव भी अपने विभावो को छोडकर श्रुत आदि अन्य विभावो के द्वारा शान्त रस को उत्पन्न करते हैं। समस्त वस्तुओ के विकृत होने से हास्य रस का स्थायी भाव हास शान्त रस को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार करुण रस का स्थायीभाव शोक भी समस्त ससार को शोचनीय रूप में देखने वाले को शान्त रस की अनुभूति कराता है। रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध समस्त ससार को अपकारी देखने वाले को शान्त रस की अनुभूति कराता है। इसी प्रकार उत्साह स्वीकार करने वाले को वीर रस का स्थायीभाव उत्साह, समस्त विषय समूह से भयभीत होने वाले को भयानक रस का स्थायीभाव भय, सबके लिए रमणीय कामिनी आदि से भी घृणा करने वाले को बीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा, आत्मस्वरूप को प्राप्ति के कारण विस्मयप्राप्त साधक को अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय शान्त रस की अनुभूति कराता है। अतः हास से लेकर विस्मय पर्यन्त किसी एक स्थायी भाव को शान्त रस का स्थायीभाव माना जा सकता है।

परन्तु उपर्युक्त मत मान्य नहीं है क्योंकि परस्पर विचार करने से ही किसी एक का स्थायीभावत्व खण्डित हो जाता है। यह कहना भी अनुचित है कि विभिन्न उपायों के भेद से रति आदि आठ स्थायीभावों का शान्त रस मे

१. नाट्यदर्पण, पृ० १५०, १५१

स्थायीभावत्व होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न स्थायीभाव मानने पर शान्त रस के भी अनन्त भेद मानने पड़ेंगे।

शान्त रस के स्थायीभाव के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि रति आदि आठ स्थायीभावों की समष्टि को शान्त रस का स्थायीभाव मानना चाहिए। यथा ठण्डाई आदि पानक द्रव्यों मे गुड और मिर्च आदि अनेक द्रव्यों का सम्मिलित स्वाद एक विचित्र स्वाद प्रदान करता है, ठीक इसी प्रकार रति आदि आठ स्थायीभाव पानक-रस-न्याय से मिलकर एक अलौकिक शान्त रस को उत्पन्न करते हैं।

किन्तु यह मत भी असगत है क्योंकि रति आदि विषयक जो चित्तवृत्तियाँ हैं, उनका एक साथ होना असम्भव है। पुन चित्तवृत्तियों मे परस्पर विरोध भी पाया जाता है। फलत उपर्युक्त मत भी युक्तियुक्त नही है।

मम्मट[1] आदि विद्वानों ने निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव माना है। इन विचारकों के अनुसार तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद इस रस का स्थायीभाव है। जिस निर्वेद की उत्पत्ति दारिद्र्य आदि से होती है, वह तत्त्वज्ञान रूप कारण के भिन्न होने से उस निर्वेद से भिन्न है जो शान्त रस का स्थायीभाव है। तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुआ ही 'निर्वेद' मोक्ष का कारण है। इसीलिए नाट्यशास्त्र मे भरतमुनि ने व्यभिचारी भावों की गणना करते समय सबसे पहले निर्वेद को गिनाया है। क्योंकि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्त रस का स्थायीभाव है तथा मोक्ष का साधन है। यदि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुआ 'निर्वेद' मोक्ष का साधन नहीं है और दारिद्र्यजन्य निर्वेद से भिन्न नहीं है तो शुभ की कामना करने वाले भरतमुनि व्यभिचारी भावों के प्रारम्भ मे इसकी गणना कदापि न करते।

परन्तु उपर्युक्त मत तर्कसगत नही है। स्थायी भाव वह है जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नही हो पाता। वह समुद्र की तरह उन्हें आत्मसात् कर लेता है। इस ताद्रूप्य की प्राप्ति निर्वेद मे नहीं है। एक ही भाव को स्थायीभाव एव व्यभिचारी भाव नही माना जा सकता है। इसे इन दोनो नामों से अभिहित करना स्ववचन विरोध है[2]। पुनश्च काव्य अथवा नाट्य में यदि निर्वेद की पुष्टि होगी तो रस के स्थान पर यह वैरस्य ही उत्पन्न करेगा।

१ निर्वेदस्थायिभावोऽपि शान्तोऽपि नवमो रस। (काव्यप्रकाश, पृ० ९२)

२. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरस प्रति स्थायिता प्रतिकूलविभावादिग्रहे इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारिता च ब्रुवाण-स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति। (नाट्यदर्पण, पृ० १५७)

शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद न मानकर 'शम' मानना चाहिए। ससार-भय (देव, मनुष्य एव तिर्यक् आदि अनेक योनियो म भ्रमण करने का भय), वैराग्य (विषयवै मुख्य), तत्त्वज्ञान (जीवाजीव, पुण्यपापादि का ज्ञान) एव शास्त्रों के ज्ञान आदि विभावो से इसकी उत्पत्ति होती है। क्षमा (तर्जन, वध एव बन्ध आदि को सहना), ध्यान, निश्चल दृष्टि, उपकार, मैत्री, प्रमोद एव कारुण्य आदि अनुभाव हैं[1]। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुत मम्मट को भी यही अभीष्ट रहा होगा जो नाट्यदर्पणकार को अभीष्ट है। मम्मट ने जो शान्त रस का उदाहरण "अहौ वा हारे वा" दिया है, इससे भी यही प्रतीत होता है कि निर्वेद नामक स्थयीभाव तत्त्वज्ञान से उत्पन्न भाव है। जब तत्त्वज्ञान से उत्पन्न भाव को ही शान्त रस का स्थायीभाव मानना है, तो फिर उसे शम की ही सज्ञा क्यों न प्रदान की जाय ? हमारे नाट्यदर्पणकार ने निर्वेद' और 'शम' का अलग अलग स्वरूप प्रकाशित कर विषय को स्पष्टता मे पूर्ण सहयोग दिया है। सम्भवत इसी ग्रन्थ से ही प्रेरणा प्राप्त कर विश्वनाथ ने भी शम' तथा 'निर्वेद' भावो की अलग २ पुष्टि की है।

नाट्यदर्पणकार ने नव रसो के अतिरिक्त लौल्य, स्नेह, व्यसन, दु ख एव सुख आदि रसो का भी उल्लेख किया है[2]। परन्तु इन सबको रस नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इनका पूर्वोक्त रसों मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। इन विद्वानो ने जिस लौल्य रस की चर्चा की है, इसे हम 'लालसारूप, से अभिहित कर सकते हैं जिसका प्रदर्शन प्रतिनायक अथवा खल पात्रों की ओर से ही शक्य है। पुन प्रेक्षको को किसी दूसरे की आसक्ति देखकर रति आदि भावों का अनुभव हो सकता है, स्वयं किसी व्यसन रस का अनुभव नही। पुनश्च इसमे कोई सन्देह नहीं है कि व्यावहारिक जगत् में अरतियुक्त दृश्य से दु ख की प्राप्ति होती है। किन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट रूप से आभासित होता है कि वह दु ख भी किसी न किसी स्थायी भाव से ही सम्बन्धित है। 'अरति, व सन्तोष' से किसी दु ख व सुख की

---

१ ससारभय वैराग्य तत्त्वशास्त्र विमर्शनै ।
शान्तोऽभिनयन तस्य, क्षमा ध्यानोपकारत ॥ (नाट्यदर्पण पृ० १५०)

२. सम्भवन्ति त्वपरेऽपि यथा गर्द्धस्थायी लौल्य, आर्द्रतास्थायी स्नेह, आसक्तिस्थायि व्यसनम्, अरतिस्थायि दु ख, सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि।
(नाट्यदर्पण, पृ० १४५)

नहीं अपितु उनके किसी भेद की सृष्टि होती है। अतएव इनको रस नही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार नाट्यदर्पणकार ने आर्द्रता स्थायी स्नेह रस का उल्लेख किया है। इसको भी रस नही कहा जा सकता है क्योंकि स्नेह तो एक प्रकार के आकर्षण का नाम है। इसका भी अन्तर्भाव रति या उत्साह आदि मे हो जाता है। यथा बालक का माता-पिता आदि के प्रति एवं युवक जनो का इष्ट सुहृदो के प्रति स्नेह का उदय रति में ही समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुषार्थ में उपयोगी होने के कारण अथवा रञ्जन की विशेषता के कारण नव रसों की ही सत्ता स्वीकार की जा सकती है।

इनमे सर्वप्रथम श्रृङ्गार रस की गणना की जानी चाहिए क्योंकि 'काम' समस्त प्राणियो में सुलभ है तथा अत्यन्त परिचित होने के कारण सबको मनोहर प्रतीत होता है। श्रृङ्गार रस का अनुगामी होने के कारण इस रस के पश्चात् हास्य रस की गणना की जानी चाहिए। इसके उपरान्त करुण रस की गणना की जाती है। क्योंकि यह रस हास्य का विरोधी है। इसके उपरान्त रौद्र रस की गणना की जाती है क्योंकि यह रस अर्थप्रधान है और अर्थ की उत्पत्ति काम से होती है। धर्मप्रधान होने के कारण इस रस के उपरान्त वीररस की गणना की जाती है। भीतजनो को अभय प्रदान करना वीर रस का मुख्य उद्देश्य है, अतएव इस रस के उपरान्त इससे सम्बन्धित भयानक रस की गणना की जाती है। बीभत्स को विस्मय के द्वारा दूर किया जाता है, एतएव इसके उपरान्त अद्भुत रस की गणना की जाती है। 'शम' समस्त धर्मों का मूल है, अतएव सबके अन्त में शान्त रस की गणना की जाती है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में श्रृङ्गार रस की ही प्रधानता बतायी गयी है क्योंकि श्रृङ्गार रस ही काम से सम्बद्ध है। पुनश्च 'काम' पर ही धर्म और अर्थ दोनो आधारित हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से श्रृङ्गार रस धर्म, अर्थ और काम तीनो से सम्बद्ध है। नाट्यदर्पणकार ने अग्निपुराणकार एव भोजराज की एतद् विषयक प्रख्यात धारणा का अन्य रूप से समर्थन किया है। श्रृङ्गार रस समस्त रसो मे सर्वोपरि है, अतएव पहले इसी की विवेचना की जायगी।

श्रृङ्गार रस

श्रृङ्गार शब्द की उत्पत्ति 'श्रृङ्ग' तथा 'आर' इन दो शब्दो के योग से हुई है। 'श्रृङ्ग' शब्द का अभिप्राय है काम का उद्रेक एवं 'ऋ' धातु से अव-

स्थित 'मार' शब्द गत्यर्थक है। विश्वनाथ के अनुसार कामदेव का उद्भेद 'शृङ्ग' है

समस्त रसों मे शृङ्गार रस अत्यन्त कमनीय और सरस है। इसीलिए सभी आचार्यों ने इस रस की गणना सभी रसों के पहले की है। यह रस अन्य रसों की अपेक्षा अत्यधिक प्रभावशाली है, अतएव इसे 'रसराज' एवं 'आदि रस' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। कवि के शृङ्गारी होने से सारा ससार रस युक्त हो जाता है, परन्तु यदि कवि अशृङ्गारी हुआ तो सब कुछ नीरस हो जाता है[1]। इस रस को 'रसराज' से अभिहित करने के अनेक कारण हैं—

(अ) इस रस मे समस्त सञ्चारी भावों का आगमन हो जाता है परन्तु अन्य रसों मे परिमित सञ्चारी भावों का ही सचरण होता है। यद्यपि कुछ सचारी (आलस्य, औग्रय एव मरण आदि) भावों का संयोग शृङ्गार में वर्णन नही होता है, यथापि विप्रलम्भ शृङ्गार में तो इनका वर्णन होता ही है।

(ब) इसका क्षेत्र व्यापक होने से प्रेक्षकों को जितनी अनुभूति इस रस मे होती है, उतनी अन्य किसी रस में नही।

(स) शृङ्गार के आनन्द को प्रत्येक व्यक्ति सहृदय और असहृदय सभी उठा सकता है।

(द) जगत के सभी प्राणियो मे रति-भाव का प्राबल्य है।

ऐसे उज्ज्वल वेषात्मक शृङ्गार रस की उत्पत्ति रतिरूप स्थायीभाव से होती है। परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका इसके आलम्बन विभाव हैं। काव्य, गीत, वाद्य, नृत्य, वसन्त आदि ऋतु, माल्य, विलेपन, ताम्बूल, विशिष्ट भवन, वेष, विदूषक, चन्द्रोदय, चक्रवाक, केलि, पुष्पचयन, उपवन-गमन एव जल-क्रीडा आदि इस रस के उद्दीपन विभाव हैं। सम्भोग शृङ्गार मे धृति आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार में आलस्य, औग्रय और जुगुप्सा को छोडकर निर्वेद आदि सभी इसके व्यभिचारी भाव हैं। उत्साह, ताप, अश्रु एवं क्रोध आदि इस रस के अनुभाव हैं।

नायक-नायिका के सम्बन्ध के आधार पर शृङ्गार रस के मुख्य रूप से दो भेद हैं—सम्भोग एवं विप्रलम्भ। प्रथम सम्भोग शृंगार परस्पर अवलोकन,

---

१. शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एवं चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।३)

चुम्बन एवं विचित्र वक्रोक्ति आदि के भेद से अनन्त प्रकार का होता है। यथा 'उत्तर रामचरित' नाटक में—"अपने कपोलों को सटाकर सोते हुए हम दोनों पता नहीं क्या २ क्रम रहित बातें कर रहे थे। हम दोनों आलिङ्गन करने के कारण रोमाञ्चयुक्त होते हुए समस्त रात्रि को व्यतीत करते थे, याम के बीत जाने का ज्ञान नहीं हो पाता था।" सम्भोग शृङ्गार में नायक व नायिका एक दूसरे के अनुकूल रहते हुए प्रेमपूर्वक परस्पर दर्शन एवं स्पर्शन आदि का उपभोग करते हैं।

विप्रलम्भ शृङ्गार में एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होते हुए भी परतंत्रता आदि के कारण नायक-नायिका का परस्पर संयोग नहीं हो पाता है। इस शृङ्गार के भेद के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। ध्वन्यालोककार[२] विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, देशकाल, आश्रय एवं अवस्था आदि भेद बताते हुए भी इसके अनन्त भेद मानते हैं। भानुदत्त[३] देशान्तरगमन, गुरुजनाज्ञा, अभिलाष, ईर्ष्या, शाप, समय, देव एवं उपद्रव के विचार से आठ प्रकार का मानते हैं। नाट्यदर्पणकार[४] ने इसके पाँच भेद माने हैं—मान, प्रवास, शाप, इच्छा और विरह। ईर्ष्या होने के कारण अथवा प्रणयभङ्ग होने के कारण नायिका के क्रोध करने को मान कहते हैं। दशरूपककार के अनुसार किसी कार्यवश या सम्भ्रमवश या शापवश नायक-नायिका का वियुक्त हो जाना प्रवास विप्रलम्भ है। यह प्रवास विप्रयोग तीन प्रकार का होता है—भविष्यत्, वर्तमान तथा भूत[५]। नायक तथा नायिका के समीप होने पर भी जहाँ शाप के कारण रूप बदल जाय, वहाँ शाप विप्रलम्भ होता है। यथा 'कादम्बरी' में शाप के कारण वैशम्पायन तथा महाश्वेता का वियोग। दशरूपककार धनञ्जय ने इस 'शाप' को 'प्रवास' का हेतु कहा है, परन्तु नाट्यदर्पणकार ने इसे विप्रलम्भ का एक भेद माना है। माता-पिता आदि की पर-

१. स्त्री-पुंस-काव्य-गीतर्तु-माल्य-वेपेष्ट-केलिजः।
अभिनेय. म चोत्साह चाटु-तापाश्रु-मन्युभिः॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १४६)

२. ध्वन्यालोक, पृ० २१७

३. रसतरंगिणी, पृ० १३९

४. नाट्यदर्पण, पृ० १४६

५. कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता...
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः॥
(दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, ६४, ६५)

तन्त्रता के कारण जिनका नवसंगम अभी नही, भविष्य में होने वाला है, ऐसे नायक व नायिका के परस्पर सङ्गमाभिलाप को इच्छा कहते हैं। यथा—

'जैसे विरल अंगुलियाँ किये हुए, आँख ऊपर उठाये हुए राहगीर पानी पी रहा है, वैसे प्रपालिका भी जल-धारा को मन्द कर देती है[1]।"

सम्भूतभोग नायक और नायिका, माता-पिता आदि बाधा के अभाव मे भी अन्य कार्यों मे संलग्न होने के कारण जब परस्पर नही मिल पाते हैं तब इस अवस्था को विरह कहते हैं। यथा—

"अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद,
यो मां नेच्छति नागतश्च स हहा! कोऽयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रा निशि॥"

सम्भोग तथा विप्रलम्भ के अतिरिक्त श्रृङ्गार के दो प्रकार के भेद और माने जाते है—पहला अभिनय से सम्बन्ध रखता है और दूसरा फल-प्राप्ति से। प्रथम के अन्तर्गत वाक्, नेपथ्य तथा क्रियात्मक ये तीन भेद आते हैं। दूसरे के अन्तर्गत चतुर्वर्ग के आधार पर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार भेद आते हैं।

शारदातनय के अनुसार भावगर्भ, रहस सयुत, मधुर, नर्म, पेशल एवं सुवृत्त श्रृङ्गार वाचिक होता है। वस्त्र, अङ्गराग एवं माला आदि से सुशोभित शरीर तथा यौवन युक्त अङ्गों से प्रकट होने वाला श्रृङ्गार आङ्गिक होता है। दन्तच्छेद, सीत्कृत, चुम्बन, चूषण, भाव, हेला, केलि, शयनादि तथा संगीतादि से युक्त श्रृङ्गार को क्रियात्मक कहते हैं[2]।

इसी प्रकार नाट्यदर्पणकार[3] तथा दामोदर गुप्त के अनुसार जिस श्रृङ्गार का प्रदर्शन अपनी विवाहिता पत्नी के प्रति किया जाता है, उसे धर्मशृङ्गार कहते हैं। काम-श्रृङ्गार की सिद्धि परस्त्री तथा कन्या के सम्बन्ध मे होती है[4]। दामोदर गुप्त तथा अन्य विचारक भी इस विषय मे एकमत हैं[5]। अर्थश्रृङ्गार

---

१. उद्धच्छो पियइ जलं जह-जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह-तह, धारं तणुअं पि तणएइ॥
(गाथासप्तशती, २–६१)

२. भावप्रकाश, पृ० ६४

३. नाट्यदर्पण, पृ० ११०

४. नाट्यदर्पण, पृ० ११०

५. राघवन, शोध–प्रबन्ध, पृ० ४८६-४८७

विकृत चेष्टा भी हास्य रस का विभाव है। यदि अंग्रेज हिन्दी बोलने का प्रयत्न करता है, तब भी वह हमारे हास्य का आलम्बन बनता है। बन्दर व रीछ के अनुकरण पर भी हमें हँसी आती है। विकृत अलङ्कार एवं वेष भी हमारी हँसी का कारण है। यदि कोई व्यक्ति पायजामे पर टाई लगा ले अथवा एक समय मे दो रंग के जूते पहन ले अथवा मोजे को हाथ में दस्ताने की तरह पहन ले अथवा कंगन को हाथ में न पहनकर पैर में पहन ले, तब हम उसका मजाक उड़ायेंगे।

अज्ञानता भी हँसी का कारण है। यदि कोई व्यक्ति 'कुस्तुनतुनियाँ का शुद्ध उच्चारण न कर पावे तो यह स्वाभाविक है कि सबको ऐसे अवसर पर हँसी आ जाये। किसी व्यक्ति को बार-बार 'जो है सो, 'यानी,' 'मने', 'जी,' 'जी हाँ' आदि कहते हुए देखकर भी हँसी आती है। भिन्न-भिन्न विचार वाले व्यक्ति भी एक दूसरे पर हँस सकते हैं। वस्त्र निकाल कर भोजन करने वाले पण्डित जी पर शहर के लोग एवं सूट-बूट धारी नागरिक पर ग्रामीण जन हँस सकते हैं।

इसी प्रकार हम हँसी के और भी अनेक कारण ढूंढ़ सकते हैं। किसी व्यक्ति की, जब उसकी पत्नी उसे सदैव आज्ञा दिया करती है, हम सब हँसी उड़ाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी व्यक्ति की कुछ हानि न हो परन्तु यदि वह थोड़ा बहुत परेशान हो जाय, तब भी हम हँसते हैं। कक्षा में जब एक बालक अन्य बालक की पुस्तक को हँसी-हँसी में छिपाकर रख देता है, तब भी उस पर कक्षा भर के बालक हँसते हैं। इस प्रकार हास्य रस की उत्पत्ति विकृत (प्रकृति, देश, काल, वय और अवस्था के विपरीत) आचार, असङ्गत भाषण, विकृत अङ्ग (खञ्ज, कुण्टदन्तादि) धृष्टता व चञ्चलता, कक्ष (कँखौरी, बगल) व नाक का बजाना, ग्रीवा, कर्ण, चूड़ा, भ्रू आदि के नर्तन एवं दूसरी की भाषा के अनुकरण आदि से होती है। हास स्थायीभाव का परिपोष हास्य रस है। नाक का फूलना, नेत्र-विकार, जठर-ग्रह, पार्श्वग्रह एव कर-ताड़न आदि इसके अनुभाव हैं[1]। अवहित्था, हर्ष, उत्साह एवं विस्मय आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं।

यूरोपीय विद्वान हास्य-प्रवर्तन के मूल मे दूसरो की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता की भावना को अधिक महत्त्व देते है। टॉमस हाब्स नामक विद्वान के अनुसार दूसरे को अपनी अपेक्षा हीन देखकर मनुष्य की अहं-भावना को तृप्ति मिलती है

---

१. विकृताचार-जल्पाङ्गाकल्पविस्मापनोद्भवः।
हास्योऽस्याभिनयो नासा-स्पन्दाश्रु-जठरग्रहैः॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १४७)

दो रूपों मे उपस्थित होता है। इसमे या तो राज्य, सुवर्ण, धन, धान्य एवं वस्त्रादि की प्राप्ति दिखाई जाती है अथवा अर्थप्राप्ति के विचार से स्त्री सुखोपभोग दिखाया जाता है[1]।

मोक्षशृंगार मे मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन होता है। इस शृङ्गार के विषय मे भोज का मत अत्यन्त विलक्षण है। इनके अनुसार मोक्ष मे व्यक्ति क्रियाहीन हो जाता है। अतएव मोक्ष के लिए प्रयत्न करना ही मोक्ष-शृङ्गार है। नाट्यदर्पणकार ने 'मोक्षशृंगार' को शृंगार का भेद नही माना है क्योंकि धर्म, अर्थ एवं काम ही मानव-जीवन क साक्षात् फल हैं। मोक्ष की प्राप्ति तो अप्रत्यक्ष रूप से होती है। मोक्ष को धर्म का कार्य भी कह सकते हैं। अतएव मोक्ष' को शृङ्गार का भद नहीं माना जा सकता है।

आस्वाद की दृष्टि से देखें तो शृङ्गार के चतुर्वर्ग पर आश्रित उक्त भेद व्यापक अर्थ में काम और रति पर आधारित होते हुए भी निम्न रस-भूमियो मे जा पड़ते हैं अथवा संयोग वियोग की अनेकानेक स्थितियों मे सिमट जाते हैं। मोक्षशृंगार को शान्त और भक्तिरस मे समेटा जा सकता है और अन्य भेदो को शृंगार के उपभेद के रूप मे अनेक परिस्थितियो के बीच स्वीकार किया जा सकता है[2]।

हास्य रस

भरत ने हास्य रस की उत्पत्ति शृङ्गार रस से मानी है। यह तर्कसगत ही है क्योंकि चित्तानुरञ्जक होने से हास्यरस शृङ्गार से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसे हम चित्त का विकास कह सकते हैं जो प्रीति का एक विशेष रूप है। इसके विभाव के मूल मे अनौचित्य ही है।

यदि हम विचार करें तो हमे हँसी के अनेक कारण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेंगे। मानव जीवन मे विषमता या विपरीतता आदि से भी हास्य रस की उत्पत्ति होती है। यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति अपने ज्ञान की चर्चा सर्वत्र करता हुआ घूमता फिरेगा तो हमे अनायास ही हँसी आ जायगी। बड़ी नाक वाले व बौने आदमी को देखकर हास्य की सृष्टि होगी क्योंकि उस व्यक्ति मे आकृति की विपरीतता पायी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विपरीतता हँसी का कारण है।

विकृत अनुकरण से भी हँसी आती है। यथा यदि कोई कुरूप व्यक्ति सुन्दर बनने की चेष्टा में संलग्न रहेगा, तो हँसी का समुद्र अवश्य उमड़ पड़ेगा।

१. नाट्यदर्पण, पृ० ११०-१११

२ रस सिद्धान्त . स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३२२

विकृत चेष्टा भी हास्य रस का विभाव है। यदि अँग्रेज हिन्दी बोलने का प्रयत्न करता है, तब भी वह हमारे हास्य का आलम्बन बनता है। बन्दर व रीछ के अनुकरण पर भी हम हँसी आती है। विकृत अलङ्कार एवं वेष भी हमारी हँसी का कारण है। यदि कोई व्यक्ति पायजामे पर टाई लगा ले अथवा एक समय में दो रंग के जूते पहन ले अथवा मोजे को हाथ में दस्ताने की तरह पहन ले अथवा कंगन को हाथ में न पहनकर पैर में पहन ले, तब हम उसका मजाक उड़ायेंगे।

अज्ञानता भी हँसी का कारण है। यदि कोई व्यक्ति 'कुस्तुनतुनियाँ' का शुद्ध उच्चारण न कर पावे तो यह स्वाभाविक है कि सबको ऐसे अवसर पर हँसी आ जाये। किसी व्यक्ति को बार-बार 'जो है सो,' 'यानी,' 'मने', 'जी,' 'जी हाँ' आदि कहते हुए देखकर भी हँसी आती है। भिन्न-भिन्न विचार वाले व्यक्ति भी एक दूसरे पर हँस सकते हैं। वस्त्र निकाल कर भोजन करने वाले पण्डित जी पर शहर के लोग एवं सूट-बूट धारी नागरिक पर ग्रामीण जन हँस सकते हैं।

इसी प्रकार हम हँसी के और भी अनेक कारण ढूँढ सकते हैं। किसी व्यक्ति को, जब उसकी पत्नी उसे सदैव आज्ञा दिया करती है, हम सब हँसी उड़ाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी व्यक्ति की कुछ हानि न हो परन्तु यदि वह थोड़ा बहुत परेशान हो जाय, तब भी हम हँसते हैं। कक्षा में जब एक बालक अन्य बालक की पुस्तक को हँसी-हँसी में छिपाकर रख देता है, तब भी उस पर कक्षा भर के बालक हँसते हैं। इस प्रकार हास्य रस की उत्पत्ति विकृत (प्रकृति, देश, काल, वय और अवस्था के विपरीत) आचार, असङ्गत भाषण, विकृत अङ्ग (खञ्ज, कुण्टत्वादि) धृष्टता व चञ्चलता, कक्ष (कँखौरी, बगल) व नाक का बजाना, ग्रीवा, कर्ण, चूड़ा, भ्रू आदि के नर्तन एवं दूसरों की भाषा के अनुकरण आदि से होती है। हास स्थायीभाव का परिपोष हास्य रस है। नाक का फूलना, नेत्र विकार, जठर ग्रह, पार्श्वग्रह एवं कर-ताडन आदि इसके अनुभाव हैं[१]। अवहित्था, हर्ष, उत्साह एवं विस्मय आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं।

यूरोपीय विद्वान हास्य-प्रवर्तन के मूल में दूसरों की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता की भावना को अधिक महत्त्व देते हैं। टॉमस हाब्स नामक विद्वान के अनुसार दूसरे को अपनी अपेक्षा हीन देखकर मनुष्य की अहं भावना को तृप्ति मिलती है

---

१ विकृताचार-जल्पाङ्गाकल्पविस्मापनोद्भवः।
हास्योऽस्याभिनयो नासा-स्पन्दाश्रु-जठरग्रहैः ॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १४७)

और फलस्वरूप वह अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करता हुआ हँसा करता है। जहाँ तक कुरूपता का प्रश्न है, भारतीय विद्वान भी उसे स्वीकार करते हैं किन्तु टॉमस हाब्स उसका मानसिक आधार भी ढूँढने का प्रयत्न करता है। किन्तु उपर्युक्त विद्वान का यह मत तर्कसंगत नही है। गर्व को ही महत्त्व देने से मित्र शत्रु के भेद से ही हँसी का अभाव या आविर्भाव मानना पडेगा। कहने का तात्पर्य है कि ऐसी स्थिति मे मित्र के प्रति हममे हँसी न उत्पन्न होगी और शत्रु के प्रति रोके न रुकेगी। किन्तु व्यावहारिक जगत् मे हँसी के लिए इस प्रकार कोई रोक टोक नही है। पुनश्च कही कही गर्व की भावना से हो नही, द्वेष की भावना से भी हममे हँसी का आविर्भाव होता है।

अलेकजेण्डर बेन महोदय के अनुसार स्वयगर्वित व्यक्ति को ही अधोगति को प्राप्त होते देखकर हमे हँसी आती है[1]। इनके विचारो मे बहुत-कुछ सगति तो है, किन्तु पूर्णता नही। कभी-कभी वैषम्य या अनुकृति के द्वारा ही हास्य की उत्पत्ति होती है। ऐसे स्थल पर बेन महाशय के सिद्धान्त द्वारा हँसी का समाधान नही हो पाता।

काण्ट महोदय ने विफल आशा को ही हास्य का कारण माना है। किन्तु इनका यह दृष्टिकोण बहुत सीमित है। केवल असफलता के द्वारा ही हास्य की उत्पत्ति हो, यह सम्भव नहीं है और इसके द्वारा हमे हँसी तभी आ सकती है जब हमारी कोई हानि न हो, केवल हमारी मूर्खता का ही यत्किञ्चित् प्रदर्शन हो जाय। विशेष हानि होने पर असफलता करुणा को ही उत्पन्न करेगी, हास्य को नही।

पूर्वोक्त समस्त सिद्धान्तों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि हास्य को किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं माना जा सकता है। यो असगति और अनौचित्य इसके सहज प्रसारक जान पड़ते हैं और सभी सिद्धान्तो की मूलभित्ति माने जा सकते हैं, फिर भी यदि इसका विचार सामाजिक परिवर्तन के आधार पर किया जाय तो उसे किसी एक सिद्धान्त से बाँधा नही जा सकता है[2]।

यह हास्य रस दो प्रकार का होता है—(१) आत्मस्थ (२) परस्थ[3]। अपने अन्तर्गत रहने वाले विकृत वेष आदि विभावो से जो विदूषक स्वय हँसता है,

---

१. रस सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३३५ पर उद्धृत

२. रस सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३३८

३. एभ्य. स्वपरस्थेभ्यो हासस्थायी हास्यरसः प्रादुरस्ति।

(नाट्यदर्पण, पृ० १४७)

यह (देवी का) आत्मस्थ हास्य है और जो देवी (महारानी) को हँसाता है, वह उसका परस्थ हास्य है। ऐसी परिभाषा शंकुक आदि विद्वानों ने की है किन्तु यह व्याख्या सगत नहीं है क्योंकि यह तो विभावों का आत्मस्थ तथा परस्थ भेद हुआ, हास्य रस का नहीं।

स्वयं जिसमे विभाव है, वह हास्य आत्मस्थ है और दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ हास्य है। यह मत अन्य विद्वानों का है परन्तु यह भी उचित नही क्योंकि दूसरे का हास्य भी उस आत्मस्थ हास्य मे विभाव होता है। इस रूप मे हास्य का आत्मस्थ एव परस्थ भेद करने पर तो यह रति आदि सबमे हो सकता है अत तब तो सभी रसो के आत्मस्थ एव परस्थ भेद होने लगेंगे।

वास्तव मे आत्मस्थ व परस्थ विभाग का अभिप्राय यह है कि स्वयं विभावों को न देखते हुए दूसरों को हँसते हुए देखकर लोग हँसने लगते हैं। यह बात लोक मे भी देखी जाती है। कभी स्वय विभावादि को देखकर भी गम्भीर होने के कारण जिसको साधारणत हँसी नही आती है, वह भी दूसरों को हँसते देखकर क्षणमात्र के लिए मुस्करा देता है। इस प्रकार जो हास स्वगत रूप है, वह आत्मस्थ और जो अन्यत्र सक्रान्तरूप है, वह परस्थ है।

यह हास्य रस उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन प्रकृतियों के आधार पर छः प्रकार का होता है। स्मित और हसित उत्तम प्रकृति मे, विहसित और उपहसित मध्यम प्रकृति मे, अपहसित और अतिहसित अधम प्रकृति मे पाया जाता है। जिसमे दाँत न दिखाई पडे यह 'स्मित' हास होता है। 'हसित' मे थोडा सा ही दाँत दिखाई पडता है। उचित समय पर होने वाला आवाज सहित मधुर हास 'विहसित' कहलाता है। 'उपहसित' मे कन्धे के हिलने के साथ ही साथ सिर मे कम्पन होता है। अनुचित अवसर पर इस प्रकार का हास जिसमे नेत्र अश्रुयुक्त हो जायें, कन्धे तथा सिर हिलने लगें 'अपहसित होता है। सुनने मे बुरा लगने वाला, हाथ से पसलियो को दवाकर अत्यन्त जोर से होने वाला हास 'अतिहसित' कहलाता है[१]।

जो व्यक्ति जितना ही सभ्य होगा, वह उतना ही आवेगों को संयत कर सकेगा। अतएव इन्हे उत्तम, मध्यम व अधम इन तीन भेदों मे बाँटना उचित ही है। हास्य रस स्त्री तथा नीच पुरुष आदि में अधिकतर पाया जाता है क्योंकि इनका सस्कार ही नीच होता है। ये सब गम्भीर प्रकृति के नहीं होते।

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १४८

करुणरस

करुणरस अन्य रसों की अपेक्षा अत्यन्त कमनीय रस है। इस रस में हमारी आँखो से आँसुओं की झड़ी लग जाती है, जो हमारे हृदय की मलिनता को धो देते हैं। दुःख में हम निखर उठते हैं, हमे अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। यही रस सहृदयता का परिचय दिलाता है। यही परोपकार जैसे कठिन मार्ग का पथप्रदर्शक है। कहने का तात्पर्य है कि जगत में अनेक गुणों का भण्डार यही रस है।

नाटककार भवभूति ने 'करुण'को ही एकमात्र रस माना है। उनके विचार से अन्य रस जल के बुलबुले के समान है जो उसी में उत्पन्न होते है एवं उसी में समाविष्ट हो जाते हैं। इस रस का संवेदन बड़ा तीखा होता है। इसी करुण रस का ही परिणाम है कि महर्षि वाल्मीकि को रामायण जैसे महाकाव्य की रचना करनी पड़ी।

यद्यपि मनुष्य को जीवन-संग्राम में अनेक बार सफलता का आलिंगन करने का अवसर प्राप्त होता है, तथापि उसे कई बार अनिष्ट का भी सामना करना पड़ता है। उस अनिष्ट से व्यक्ति शोकाकुल हो जाता है। इसी शोक-प्रधान मनोविकार का नाम करुण रस है। इस करुण रस की प्राप्ति इष्ट-नाश अथवा अनिष्ट-प्राप्ति से होती है। हमें अनिष्ट-प्राप्ति से यह अर्थ कदापि नही लगाना चाहिये कि इष्ट सर्वथा नष्ट ही हो जाय अपितु इष्ट की हानि से भी करुण रस का आविर्भाव हो सकता है। कहने का तात्पर्य है कि करुण रस की उत्पत्ति शोक नामक स्थायीभाव से होती है। यह शोक (प्रियजन की) मृत्यु, बन्ध, धननाश, शाप, व्यसन में फँस जाने आदि विभावों से होता है। बाष्प वैवर्ण्य, निःश्वास, मुख-शोष, स्मृति लोप, स्रस्तगात्रता, दैवोपालम्भ, रुदन, प्रलाप एवं ताड़न आदि इसके अनुभाव हैं[१]। विवेक के जाग्रत रहने से ही शोक का सहन हो सकता है। उत्तम कोटि के व्यक्ति धैर्य से शोक का सहन करते हैं। मध्यम कोटि के व्यक्ति रुदन करते हैं एवं अधम प्रकृति वाले हाहाकार मचा देते हैं।

निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं स्वरभेद आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

---

१. मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शाप-व्यसनसम्भवः ।
करुणोऽभिनयस्तस्य, बाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनैः ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १४८)

भानुदत्त ने करुण रस के 'स्वनिष्ठ' एवं 'परनिष्ठ' दो भेद माने हैं। स्वयं के इष्ट का नाश होने पर 'स्वनिष्ठ' एवं अन्य के इष्ट आदि का नाश होने पर 'परनिष्ठ' करुण होता है।[1] भरतमुनि ने करुण के निम्न भेद बताए हैं—धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत[2] अर्थात् धर्मनाश, अर्थहानि एवं शोक से उत्पन्न होने के कारण करुण रस तीन प्रकार का है। परन्तु इनमे शोक करुण ही सबसे प्रधान है। शारदातनय ने करुण के मानस, वाचिक तथा कर्म नामक तीन भेद माने हैं।[3] परन्तु ये विशेष महत्व के नही हैं क्योंकि ये भेद अनुभाव भेद पर ही आधारित हैं।

यदि हम विभावादि के आधार पर करुण का भेद करेंगे, तब तो इसके अनन्त भेद हो जायेंगे। अत. इसके केवल यदि दो ही भेद किए जायें तो अधिक अच्छा है। वे भेद है—इष्टनाश एवं अनिष्टप्राप्ति। इष्टनाश तो इष्ट की मृत्यु से सम्बन्धित है, परन्तु अनिष्टप्राप्ति के अन्तर्गत अन्य समस्त भेदों का समावेश हो जायेगा।

अब हमे इस बात पर विचार करना है कि करुण रस एवं विप्रलम्भ शृङ्गार में मुख्यत. भेद क्या है। शोक के स्थायी हो जाने पर विप्रलम्भशृङ्गार की सीमा की समाप्ति हो जाती है और करुण रस की सीमा का प्रारम्भ हो जाता है। करुण रस एवं विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा मृत्यु है। अयोग शृङ्गार की दश अवस्थाएँ हैं—अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण। मृत्यु के अतिरिक्त वियोगावस्था मे प्रेमियो की कोई भी दशा हो जाय, वह विप्रलम्भ शृङ्गार माना जाता है। उनमे से इष्टजन की सचमुच मृत्यु हो जाने के कारण रस की उत्पत्ति होती है।

विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायीभाव रति है और करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यही विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस मे भेद है। विप्रलम्भ शृङ्गार में इष्टजन आदि के विषय मे जो आशा की अपेक्षा रहती है, वर्तमान रहती है परन्तु करुण रस मे पुनर्मिलन की आशा सर्वथा समाप्त हो जाती है। अत करुण को आशा से रहित नैराश्य प्रधान भाव कहा जाता है एवं विप्र-

---

१. स्वशापबन्धनक्लेशानिष्टैर्विभावै. स्वनिष्ठः।
परेष्टनाशशापबन्धनक्लेशादीना दर्शनस्मरणैर्विभावैः परनिष्ठ.॥
(रसतरंगिणी, पृ० १४९)

२. भरतनाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, ७८

३. भावप्रकाश, पृ० ६४

लम्भ शृङ्गार को सापेक्ष भाव । आलम्बन विभाव के नष्ट हो जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार समाप्त हो जाता है । इसके स्थान पर करुण रस का आविर्भाव हो जाता है ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जहाँ निराशा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, वहाँ करुण रस होता है परन्तु जहाँ आशा की किरणें चमक रही हैं, चाहे उनकी चमक बिल्कुल मन्द ही क्यों न हो, वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार ही होता है । यही विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में भेद है ।

रौद्र रस

घातप्रहार, मिथ्यावचन, ईर्ष्या, द्रोह, आधर्ष एवं अन्याय आदि से क्रोध उत्पन्न होता है । इसी क्रोध स्थायीभाव का परिपोष रौद्ररस है । परोपकार करने पर भी हानि उठाने वाले अनादृत होने वाले, अतृप्त आकांक्षा वाले, विरोध सहन न कर पाने वाले और तिरस्कृत एवं निर्धन व्यक्ति अत्यन्त शीघ्र ही क्रोधित हो जाते हैं । प्रतिकूल आचरण करने वाले हमारे क्रोध के पात्र होते हैं । घात, छेदन, भेदन, रुधिराकर्षण, दन्तनिपीडन, ओष्ठनिपीडन, गण्डस्फुरण, ओष्ठस्फुरण एवं हस्तमर्दन आदि इस रस के अनुभाव हैं । मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चापल औग्र्य, स्वेद, वेपथु, रोमाञ्च आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं[1] ।

राक्षस एवं दानव आदि में रौद्र रस की प्राप्ति होती है क्योंकि ये स्वभावतः क्रोधी, अनेक बाहुवाले अनेक मुख वाले, काँपते हुए, पीले केशों से युक्त, रक्त नेत्र वाले और भयंकर काले रङ्ग के होते हैं । अतएव ये जो भी वाचिक एवं आङ्गिक आदि व्यापार स्वभाविक रूप से भी आरम्भ करते हैं, वह रौद्र भी होता है ।

भरतमुनि[2] तथा शारदातनय[3] ने रौद्र के भी अङ्ग, नेपथ्य और वाक् नामक तीन भेद माने हैं । नेपथ्य शब्द का प्रयोग भरत ने वेषभूषा के लिए किया है । भरत के अनुसार रुधिर में सिक्त देह या मुख, सिर तथा हाथ 'नेपथ्य रौद्र' का लक्षण है । शारदातनय ने कृष्णरक्त वस्त्र कृष्णरक्तानुलेपन, कृष्णरक्त माला तथा आभूषणादि के धारण को नेपथ्य' रौद्र का लक्षण बताया है । इसी प्रकार भरत ने बहुबाहु बहुमुख, नाना अस्त्रों से सुसज्जित

---

१ प्रहारासत्य मात्सर्य द्रोहाधर्षापनीतिज ।
रौद्रः स चाभिनेतव्य , घात दन्तोष्ठ पीडनैः (नाट्यदर्पण, पृ० १४८)

२ नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, ७७

३. भावप्रकाश, पृ० ६४

स्थूलकाय को 'अङ्ग रौद्र' का लक्षण बताया है। 'बाँध लो' 'मारो', 'पीटो' आदि वाचिक रौद्र को प्रकट करते हैं। नाट्यदर्पणकार ने रौद्र रस के किसी भी भेदों की चर्चा नहीं की है, जो उचित ही है क्योंकि उपर्युक्त भेदों का सामूहिक प्रदर्शन ही अधिक श्रेयस्कर है। वाचिक रौद्र के अभाव में नेपथ्य रौद्र का अभिनय भलीभाँति न हो पायेगा क्योंकि रौद्र और भयानक में क्रिया का ही विशेष अन्तर है। विकृत वेषभूषा तो भयानक रस की भी सृष्टि कर सकती है। अतएव रौद्र रस के उपर्युक्त भेद-प्रभेद संगत नहीं हैं।

वीर रस

किसी कार्य के सम्पादन के लिए हमारे मन में एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है, इसे उत्साह कहते हैं[1]। इसी उत्साह नामक स्थायी भाव से वीर रस की उत्पत्ति होती है। भरतमुनि ने इस रस की भी गणना मूल रस में की है। इस रस से अद्भुत रस का प्रादुर्भाव होता है।

यह रस मनुष्य में उत्साह रूपी एक अनुपम शक्ति का सञ्चार करता है। इस अद्वितीय शक्ति के प्रादुर्भूत होने से मनुष्य की नस-नस में बिजली कौंध जाती है। वह अन्याय का ध्वंस करने एवं न्याय का प्रचार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। यहाँ तक कि वह अपने प्राणों की आहुति भी दे देता है।

भरतमुनि[2] ने अविषाद, शक्ति, धैर्य, शौर्य तथा त्याग आदि को वीर रस का विभाव माना है। हेमचन्द्र ने नय (प्रतिनायक के प्रति नीति, विनय, असंमोह, अध्यवसाय, बल, शक्ति, प्रभाव, विक्रम, अधिक्षेप आदि) को विभाव, स्थैर्य (धैर्य, शौर्य, गाम्भीर्य, त्याग एवं वैशारद्य) आदि को अनुभाव तथा धृति, (धृति, स्मृति, औग्र्य, गर्व, मति, आवेग एवं हर्ष) आदि को व्यभिचारीभाव माना है[3]। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने वीर रस को अभिनय की दृष्टि से बल, पराक्रम, न्याय, यश तथा तत्त्वविनिश्चय को प्रमुख माध्यम माना है। पराक्रम से इनका तात्पर्य शत्रु के मण्डलादि पर आक्रमण के सामर्थ्य से है। बल के द्वारा उन्होंने सैन्य, धन, धान्य तथा सम्पत्ति का बोध कराया है। शारिरिक शक्ति को भी बल कहते हैं। न्याय का अर्थ साम आदि का सम्यक् प्रयोग अर्थात् इन्द्रियजय है। यश सार्वत्रिक

---

१. उत्साहः सर्वकृत्येषु सत्वरा मानसी क्रिया। (भावप्रकाश, पृ० ३५)

२. नाट्यशास्त्र, पृ० ८३

३. काव्यानुशासन, अ० २, सू० १४

गुणख्याति है। तत्त्व का तात्पर्य तत्त्व (यथातथ्य) का निश्चय है[1]।

वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है। उत्साह प्रदर्शन की कोई निश्चित सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती है। इसी से इस रस के अनन्त भेद हैं। संसार मे धृति, क्षमा, दम्भ, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य एवं अक्रोध आदि जितने अच्छे गुण हैं, परोपकार, दान एवं दया आदि जितने अच्छे कर्म हैं, सभी मे वीरता का प्रदर्शन हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी क्षेत्र मे किसी की यदि असाधारण योग्यता है, तो उस क्षेत्र मे उसे 'वीर' सज्ञा से अभिहित किया जाता है[2]।

भरत ने वीर रस के तीन भेदो का उल्लेख किया है—युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर। भानुदत्त तथा भोजराज ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर का वर्णन किया है। विश्वनाथ ने इस संख्या मे धर्मवीर को भी मिलाकर इस रस के चार भेद मान लिए हैं—युद्धवीर, दानवीर दयावीर, तथा धर्मवीर। नाट्यदर्पणकार ने भी वीर रस के अनेक भेद माने हैं। यथा युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर, गुणवीर, प्रतापवीर और आवर्जनवीर[3]।

किन्तु वस्तुत. केवल किसी विषय मे संलग्नता को ही उत्साह कहना उचित नही है[4]। नही तो यदि कोई अध्ययन मे तत्पर है, तब तो वह 'अध्ययनवीर' कहा जायगा। परन्तु यह संगत नहीं है। यदि इसी प्रकार वीर के भेदो की संख्या बढाई जायगी, तब तो इसके अनन्त भेद मानने पडेंगे। वीर रस के भेद का विचार आश्रय तथा भाव के प्राधान्य के माध्यम से किया जाय तो अधिक श्रेयस्कर है। हमारे विचार से वीर रस के भेद मे 'गुणवीर' और 'कर्मवीर' ही प्रधान हैं। क्योंकि जगत् मे सत्य, क्षमा आदि 'गुण' ही कहे जाते हैं। सत्य बोलना भी गुण है, क्षमा करना भी गुण है। इसी प्रकार परोपकार, दान, दया आदि 'कर्म' कहे जाते हैं। दान देना भी

---

१. पराक्रम-बल-न्याय-यशस्तत्त्वविनिश्चयैः।

पराक्रमः परकीयमण्डलाद्याक्रमणसामर्थ्यम्। बलं हस्त्यश्व-रथ-पदाति-धन धान्य-मन्त्र्यादिसम्पत्, शारीरिकी शक्तिर्वा। न्यायः सामादीना सम्यक्प्रयोग.। अनेनेन्द्रियजयो गृह्यते। यशः सार्वत्रिकी शौर्यादिगुणख्यातिः। तत्त्वं याथात्म्यं तस्य विनिश्चयः। (नाट्यदर्पण, पृ० १४९)

२. काव्यादर्श, पृ० २४५

३. नाट्यदर्पण, पृ० १४९

४. रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण पृ० ३६१

कर्म है, न्याय के लिए युद्ध करना भी कर्म है। इस प्रकार यदि हम सूक्ष्म रूप से विचार करें तो उपर्युक्त वीर रस के समस्त भेदों का 'गुणवीर' और 'कर्मवीर' में अन्तर्भाव हो जायगा। अतः केवल 'गुणवीर' और 'कर्मवीर' को ही वीर रस का भेद मानना अधिक संगत है।

यद्यपि रौद्र तथा वीर रस में आलम्बन, उद्दीपन तथा सञ्चारी भावों की समानता है तथापि इन दोनों में कुछ ऐसी असमानताएँ भी हैं जिनके आधार पर दोनों को पृथक्-पृथक् मानना पड़ता है। सर्वप्रथम तो इन दोनों के स्थायीभाव में ही अन्तर है। वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है तो रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध। वीर रस में उत्साह एवं न्याय का प्राधान्य होता है रौद्र रस में मोह, अहंकार एवं अन्याय का प्राधान्य रहता है। उत्साह में धीरता, प्रसन्नता आदि गुण वर्तमान रहते हैं। पुनश्च इसमें हित एवं अहित का भी विवेक रहता है परन्तु क्रोध में हित एवं अहित का किञ्चित् भी विवेक नहीं रहता है। वीर पुरुष उदार होता है। इसके विपरीत क्रोधी पुरुष अत्यन्त क्रूर होता है। वीर रस में प्रतिक्रिया की भावना नहीं रहती है परन्तु रौद्र रस में यह भावना अत्यन्त तीव्र रहा करती है। उत्साह में पाशवी क्रोध जैसी तीव्रता नहीं रहती है परन्तु क्रोध में यह सुलभ है। यही वीर एवं रौद्र रस में भेद है।

भयानक रस

भयंकर परिस्थितियों के कारण भय की उत्पत्ति होती है। यही भय इस रस का स्थायी भाव है। किसी व्यक्ति के स्वर और आकार आदि के वैकृत्य के कारण, पिशाच व उलूक आदि के देखने से, शस्त्राघात, निर्जन गृह और अरण्य आदि में गमन करने से, तस्कर आदि के कारण, गुरु एवं नृप आदि के प्रति अपराध करने से, इष्ट जनों के वध, बन्ध आदि देखने, सुनने या चिन्तन आदि से उत्पन्न होता है। स्तम्भ, कम्पनयुक्त हाथ-पैर, गात्र व मुख में विकार, गले का सूखना एवं मूर्च्छा आदि से इस रस का अभिनय करना चाहिए[1]। शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, त्रास, अपस्मार, मरण, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, वेपथु स्वरभेद, वैवर्ण्य आदि इस रस के व्यभिचारी भाव हैं।

इस रस का मन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अत एव इसके द्वारा लोग भगद्भक्ति में संलग्न हो जाते हैं। जिस समय मनुष्य को भयंकर वस्तुओं

---

१. पताका-कीर्ति-रौद्रादि-शून्य तस्करदोदज ।
भयानको ऽभिनेतव्य स्तम्भरोमाञ्चकम्पनैः ॥ (नाट्यदर्पण, पृ० १४९)

का सामना करना पड़ता है, उस समय यह नितान्त स्वाभाविक है कि मनुष्य ईश्वर की ओर ध्यान लगावे। इसी रस का ही परिणाम है कि मनुष्य कलुषित भावनाओं से दूर रहने का प्रयत्न किया करता है।

यह भयानक रस तीन प्रकार का होता है—व्याजजन्य, अपराधजन्य और विभ्रासितक[१]। व्याजजन्य भय बहाने (व्याज) से होने वाला भय होता है। इसे हम 'कृत्रिम भय' की भी संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। गुरुजन आदि के प्रति किए गए अपराध के कारण हम यह सोचकर डर जाते हैं कि पता नहीं इस अपराध के लिए हमे क्या दण्ड मिलेगा। इस भय को 'अपराधजन्य' भय कहते हैं क्योंकि भय की उत्पत्ति ऐसे अवसर पर अपराध के कारण होती है। इसे 'काल्पनिक भय' से भी अभिहित किया जा सकता है क्योंकि इसमे व्यक्ति कल्पना ही किया करता है कि न जाने कौन सा दण्ड मिलेगा। जो स्वभावतः भीरु स्त्री व बालको को तिनके के हिलने से भी भय होने लगता है, उसे 'विभ्रासितक' भय कहते हैं। भयानक रस का उपर्युक्त विभाजन विभावो के आधार पर किया गया है, जो संगत ही है।

सम्बन्ध के विचार से भयानक रस के दो भेद हो सकते हैं—स्वनिष्ठ एव परनिष्ठ। अपराध के स्वनिष्ठ होने पर भय स्वनिष्ठ होता है। किसी अन्य व्यक्ति की निर्दयता आदि के कारण जो भय उत्पन्न होता है, उसे हम परनिष्ठ कहते हैं। भावप्रकाशकार ने भयानक के दो भेद बताए हैं—आङ्गिक एव मानस। आंगिक भय मे दिशाओ का भ्रम होता है, सहायता के लिए अपेक्षा की जाती है, इधर-उधर दृष्टि डाली जाती है, हाथ और पैर में कम्पन होने लगता है एव अंगुली चबाई जाती है। मानस भय में हम स्वेदयुक्त हो जाते हैं, आँख और पुतलियाँ चञ्चल हो जाती हैं, सम्यक् ज्ञान नही रहता है, कथन-अकथन का ज्ञान नही रहता है, स्वर गद्‌गद हो जाता है। एव मुख सूख जाता है। आंगिक एवं मानस भय के उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही हैं।

भयानक और करुण इन दोनों का आधार अनिष्ट ही हैं तथापि भय मे अभीष्ट के नाश की आशङ्का अत्यन्त प्रबल रूप में रहती है, परन्तु करुण रस में इष्ट का नाश हो ही जाता है। इसी प्रकार भयानक और रौद्र रस में भी अन्तर है। भयानक में भययुक्त वस्तु से भागने की प्रवृत्ति रहती है, परन्तु रौद्र में उससे डटकर सामना करने की इच्छा विद्यमान रहती है।

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, ८०

रौद्र आत्मशक्ति का द्योतक है। इसके विपरीत भयानक अन्तःकरण की हीनता का द्योतक है।

बीभत्स रस

बहुत से विद्वानों को बीभत्स रस मान्य नहीं है। उन विद्वानों ने इस रस को सहृदयावर्जक नहीं माना है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। इस रस की विचित्रता के कारण इसे रस मानना ही पड़ेगा। बीभत्स रस हमारे हृदय में विरक्ति का सञ्चार करता है एवं बुरे कर्मों से निन्दा का भाव उत्पन्न कराता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर-भक्ति के मार्ग में जितनी कामिनी आदि घाटियाँ हैं, उन सबसे यह रस विरक्त कराता है।

इस रस का स्थायीभाव जुगुप्सा है। कुछ लोग जुगुप्सा और अश्लीलता को एक ही मानते हैं परन्तु उनका मत संगत नहीं है। अश्लीलता शृङ्गार रस में ही सम्भव है। मर्यादा के उल्लंघन को अश्लीलता कहते हैं, किन्तु जुगुप्सा का यह स्वरूप नहीं है। जुगुप्सा का कार्य घृणा उत्पन्न करना है। अश्लीलता के लिए यह आवश्यक नहीं है।

मलिन रूप, बुरी दुर्गन्ध एवं कर्कश शब्द आदि विभावों से इस रस की उत्पत्ति होती है। जिन-जिन वस्तुओं से घृणा होती है, वे सब बीभत्स रस के विभाव हैं। किसी के बुरे कार्य भी इस रस के विभाव हो सकते हैं। बीभत्स के लिए यह आवश्यक नहीं है कि श्मशान, शव, रक्त, मांस, मज्जा एवं अस्थि आदि का ही वर्णन हो। ऐसी वस्तुएँ भी बीभत्सित हैं जिनके देखने से या जिनका स्मरण करने से अथवा जिनकी कल्पना करने से घृणा हो। जिन वस्तुओं को छूना नहीं चाहिए, जिन पदार्थों का स्पर्श नहीं करना चाहिए, जिन पदार्थों के खाने में स्वभावतः प्रवृत्ति न हो, वे सब बीभत्स रस के विभाव हैं। कफ निकलना, गात्र धूनन, दोषोद्घाटन, गात्र सङ्कोच, मुख के अवयवों का सिकुड़ना, नाक एवं कान को बन्द कर लेना आदि इस रस के अनुभाव हैं। व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार एवं मरण आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं[1]।

भरत तथा धनञ्जय ने बीभत्स के उद्वेगी, क्षोभण और शुद्ध ये तीन भेद माने हैं। शारदातनय ने बीभत्स के दो ही भेद माने हैं—उद्वेगी और क्षोभण। भरत तथा शारदातनय ने विष्ठा तथा कृमि विभाव वाले बीभत्स को उद्वेगी, रुधिरादिजन्य बीभत्स को 'क्षोभण' माना है। धनञ्जय के अनुसार जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य के कारण उत्पन्न घृणा से शुद्ध बीभत्स

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० १५०

होता है। क्षोभजन्मा बीभत्स को मानस एव उद्वेगी बीभत्स को आङ्गिक कह सकते हैं। मानस बीभत्स म चुप रहना, छिपना आदि लक्षण पाये जाते हैं। उद्वेगज मे हम वस्त्र से अपने को आच्छादित कर लेते हैं, नेत्रो को बन्द कर लेते हैं, एव शीघ्रतापूर्वक आगे बढ जाना चाहते हैं। शारीरिक जुगुप्सा की अपेक्षा मानसिक जुगुप्सा का अत्यधिक महत्त्व है। मानसिक जुगुप्सा क कारण हम दुष्टो के कुकर्मों पर उनकी निन्दा करते हैं, अनीति के कारण अन्यायी को तिरस्कृत करते है दुष्कर्मों एव दुर्गुणो से दूर भागते है एव कुसग का त्याग करते हैं।

बीभत्स और भयानक मे बहुत कुछ आलम्बन का साम्य है। अत व्यक्ति की प्रकृति भेद के अनुसार एक ही आलम्बन से किसी को बीभत्स रस की सिद्धि हो सकती है और किसी को भयानक रस की। एक बालक श्मशान को देखकर भययुक्त हो सकता है, परन्तु वही श्मशान एक व्यक्ति के लिए शान्तरस का विभाव हो सकता है। बीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा है। इसमे सुरक्षा की भावना वर्तमान रहा करती है। भय मे भी सुरक्षा की भावना मूलत विद्यमान रहती है परन्तु इन दोनो मे कुछ भेद है। भय मे पलायन की भावना प्रबल रूप से विद्यमान रहती है, परन्तु बीभत्स मे नही। बीभत्स मे घृणा से बचने के लिए हम आँख मूँद सकते हैं, मुख दूसरी ओर कर सकते हैं कि तु भयानक रस में पलायन आवश्यक है। भयानक रस में मनुष्य की शक्तिया केन्द्रित हो जाती हैं शक्तियो की अधिकता भी प्रकट होती यही कारण है कि भय की अवस्था मे व्यक्ति अपनी साधारण शक्ति की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है। भय की अवस्था मे वह अधिक तीव्र गति से दौड सकता है, कूद सकता है, परन्तु बीभत्स मे शक्तिया बिखर जाती हैं। इनका ह्रास हो जाता है। भय मे धैर्य का अभाव रहता है, बीभत्स के लिए यह आवश्यक नही है।

अद्भुत रस

भरत के अनुसार कथा का प्रवाह गोपुच्छ सदृश होना चाहिए जिसक अन्त मे आश्चर्य का उद्घाटन करना चाहिए[१]। कहने का तात्पर्य है कि

१, कार्यं गोपुच्छाग्र कर्त्तव्यकाव्यबन्धनमासाद्य।
ये चोदात्ता भावा ते सर्वे पृष्ठत कार्या ॥
सर्वेषा काव्याना नानारसभावयुक्तियुक्तानाम्।
निर्वहणे कर्त्तव्यो नित्य हि रसोद्भुतस्तज्ज्ञै ॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय २०–४६–४७)

समस्त नाटकों के अन्त में अद्भुत रस का समावेश करना चाहिए। नारायण पण्डित ने अद्भुत रस को ही प्रधान माना है क्योंकि चमत्कार ही रस का सार है। अद्भुत रस में चमत्कार की जैसी सिद्धि होती है, वैसी अन्य किसी रस में नहीं। रस का सार चमत्कार है और इस चमत्कार का सारस्वरूप अद्भुत रस है। अभिनवगुप्त के अनुसार चमत्कार शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) प्रसुप्त वासना के साथ साधारणीकरण का परिचय जनित एक विशिष्ट चेतना का उद्बोध। (२) चमत्कारजनित अलौकिक आह्लाद। (३) चमत्कार द्वारा उद्भूत कम्प एवं पुलक आदि शारीरिक व्यापार। अभिप्राय यह है कि चमत्कार चित्त का विस्तार है। उसे 'विस्मय' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। विस्मय स्थायीभाव स्वरूप अद्भुत रस है।

यह अद्भुत रस दिव्यजनों के दर्शन, इन्द्रजाल (मन्त्र, द्रव्य, हाथ एवं युक्ति के द्वारा असम्भव वस्तु का प्रदर्शन), रम्य अर्थ (रम्य शिल्प कर्म, रूप, वाक्य, गन्ध, रस स्पर्श, नृत आदि) के साक्षात्कार, अभीष्ट प्राप्ति आदि विभावों से उत्पन्न होता है। रोमाञ्च, हर्ष, नयन-विस्तार, अनिमेष-निरीक्षण, गद्‌गद वचन, वेपथु एवं स्वेद आदि इसके अनुभाव हैं[1]। वेग, जड़ता, सम्भ्रम आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

अद्भुत रस में प्रभावित होकर हम लोग प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों को बोध में लाने का प्रयत्न करते हैं। इसी रस के द्वारा हमें परमात्मा की सर्वव्यापकता का पता लगता है। भरतमुनि ने अद्भुत रस के दो भेद बताए हैं—दिव्य तथा आनन्दज। दिव्य दर्शन से दिव्य, अद्भुत तथा हर्षमय विस्मय से आनन्दज अद्भुत होता है[2]। भरत ने अद्भुत रस का उपर्युक्त विभाजन विभावों के आधार पर किया है। शारदातनय ने अन्य रसों के समान ही अद्भुत के भी वाचिक, आङ्गिक तथा मानस नामक तीन भेद माने हैं। वाचिक अद्भुत के अन्तर्गत हाहाकार, साधुवाद, कपोल स्फालन, ध्वनि, उच्चहास, हर्ष, घोष, गीत तथा उच्चस्तर आदि विकार प्रदर्शित किए जाते हैं। आंगिक अद्भुत के अन्तर्गत चलांगुलिभ्रमण, परस्पर आश्लेष एवं एक दूसरे की हथेलियों का स्पर्श होता है। मानस अद्भुत के अन्तर्गत ध्यान,

---

१ नाट्यदर्पण, पृ० १५०

२ दिव्यजश्चानन्दजश्चैव द्विधाख्यातोऽद्भुतो रस ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षानन्दश्च स्मृत ॥
(नाट्यशास्त्र, अ० ६, ८२)

नयन-विस्तार, प्रसादपूर्ण मुख तथा दृष्टि, आनन्दाश्रु, रोमाञ्च, अनिमेष दृष्टि एवं मन चाञ्चल्य आदि का प्रदर्शन किया जाता है[1]। कुछ आचार्यों ने अद्भुत के चार भेद माने हैं—दृष्ट, श्रुत, संकीर्तित एवं अनुमित। जिसके देखने पर आश्चर्य प्रकट किया जाय, उसे दृष्ट अद्भुत कहते हैं। श्रुत अद्भुत मे लोकोत्तर कार्य सुनने पर आश्चर्य होता है। जिसका संकीर्तन एवं वर्णन आश्चर्य रूप मे किया जाय, उसे संकीर्तित अद्भुत कहते हैं। अनुमित अद्भुत मे अद्भुतता को अनुमान द्वारा प्रकट किया जाता है।

यद्यपि हास्यरस एवं अद्भुत रस मे यत्किञ्चित् साम्य है, तथापि दोनों में कुछ भेद भी है। यों तो दोनों रसों का आधार विपरीतता ही है, परन्तु अद्भुत मे विपरीतता का प्राधान्य अधिक है। हास्य लौकिक घटनाओं पर आश्रित है एवं अद्भुत लोकोत्तर घटनाओं पर। हास्य में विवेक बना रहता है, जब कि व्यक्ति अद्भुत में अल्प समय के लिए विवेक-शून्य हो जाता है। यही दोनों रसों में मूलतः भेद है।

यद्यपि समस्त विद्वानों ने रस की अनेकता का प्रतिपादन किया है तथापि रसों की भिन्नता केवल औपचारिक या औपाधिक है। रत्यादि उपाधियों के भेद से रस विलक्षण प्रतीत होता है, किन्तु आनन्द रूप से वह एक ही है[2]। परमानन्द का आस्वाद ही रस है और वह सभी रसों मे एक समान है। अतएव समस्त रस एक ही हैं। यथा एक ही मधुर तत्त्व अन्न, छेना आदि संयोग से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है एवं विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से एक ही आनन्दास्वाद रस विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। भट्ट नृसिंह के अनुसार भी कूटस्थ स्वादात्मक रस एक ही होता है[3]।

---

१. भावप्रकाश, तृ० अधिकार, पृ० ६६

२. रसस्यानन्दधर्मत्वादेकध्यम्, भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नानात्वं, रत्यादय उपाधयः। (अलंकारकौस्तुभ, पृ० ६३)

३. अष्टावेव स्थायिन इति श्रुत. ? तावतामेव स्वादात्मकत्वादिति चेत्, किमेतेष्वनुस्यूत एकः स्वादात्मा ? तदर्थमिदमुक्तम् एतेषां कूटस्थ एक एव स्वादात्मा, एते च तद्विधा इति—
अत्र (अतः) सर्वेषां कूटस्था (स्थ) एक एव स्वादात्मा।
(नम्बर ऑफ रसाज में उद्धृत, पृ० १७७)

भरत ने भी रस शब्द का प्रयोग 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' पंक्ति मे एक वचन मे किया है। भरत सूत्र की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि रस की सख्या मे बहुत्व बतलाकर यहाँ पर एकत्व बतलाने का रहस्य यही है कि रस परमार्थ की दृष्टि से एक है[१]। रस का विभाजन तो केवल व्यवहार की दृष्टि से किया जाता है। रस की वास्तविक अवस्था तन्मयीभवन की अवस्था है जहाँ हम अपने और अपने से सम्बन्धित विषय ज्ञान को एकमात्र अनुभूति मे लय कर देते हैं। कहने का साराश है कि रस आस्वाद और आनन्द के रूप मे एक ही है। उसके भेद औपाधिक मात्र हैं।

---

१ पूर्वत्र बहुवचनमत्र चैकवचन प्रयुञ्जानस्यायमाशय। एक एव तावत्परमार्थतो रसः सूत्रस्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः
(अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७१)

परिशिष्ट

चार्ट्स (Charts)

प्रथम अध्याय
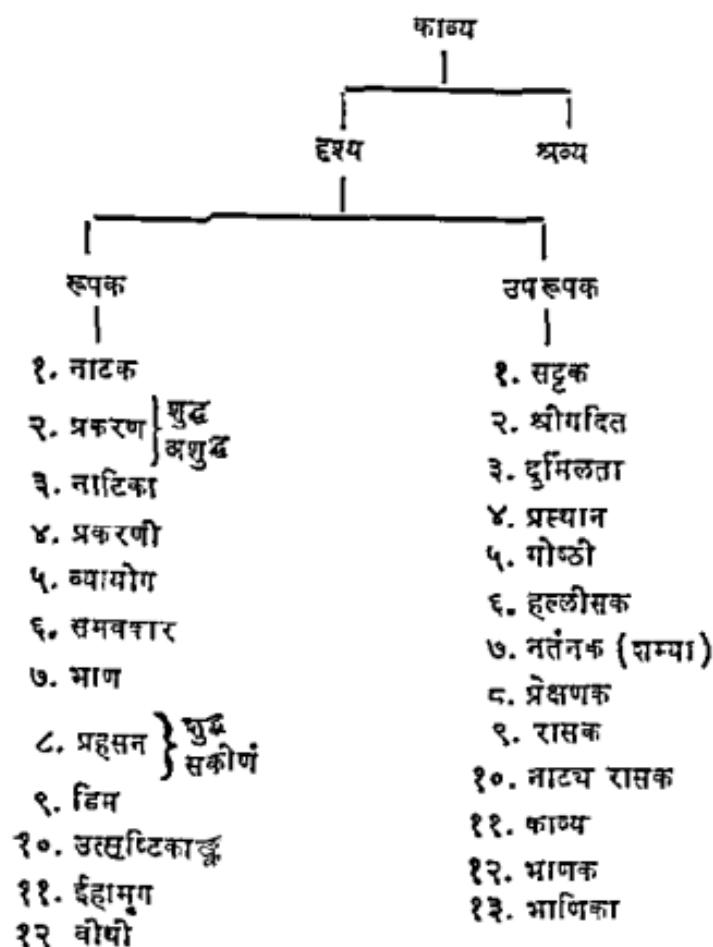
द्वितीय अध्याय

वस्तु
(स्रोत की दृष्टि से भेद)

- प्रख्यात
- उत्पाद्य
- मिश्र

वस्तु
(अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की दृष्टि से भेद)

- सूच्य
  - अर्थोपक्षेपक
    - १. विष्कम्भक { शुद्ध / संकीर्ण }
    - २. प्रवेशक
    - ३. अङ्कास्य
    - ४. चूलिका
    - ५. अङ्कावतार
- प्रयोज्य
  - १. प्रकाश
  - २. स्वगत
  - ३. अपवारित
  - ४. जनान्तिक
  - ५. आकाशोक्ति
- कल्पनीय
- उपेक्ष्य
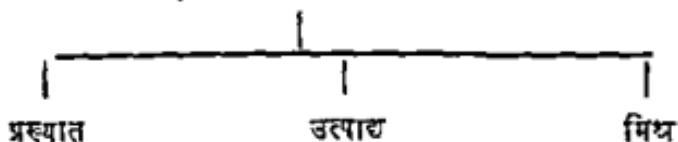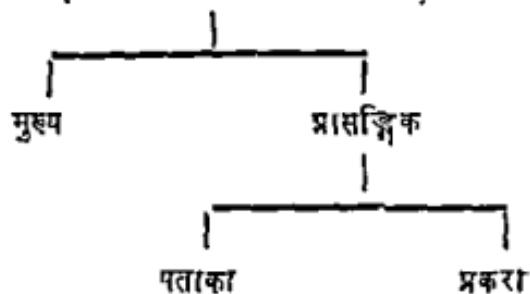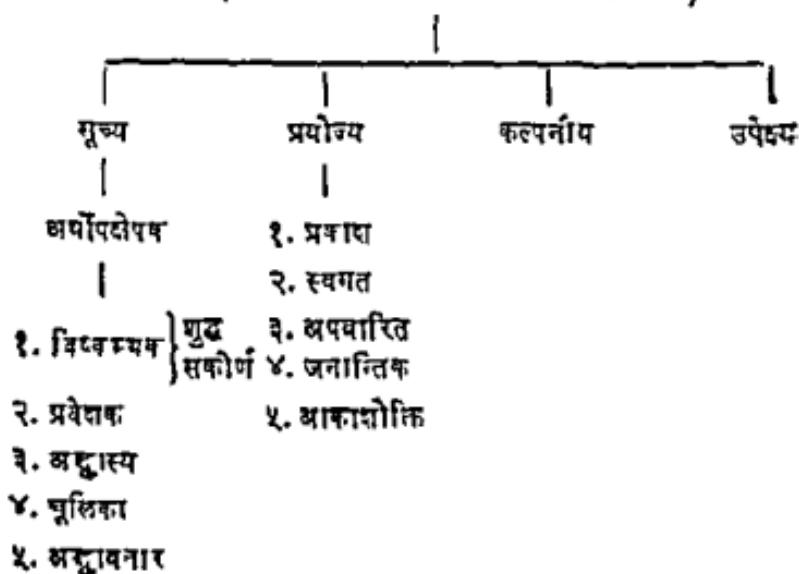
द्वितीय अध्याय

अवस्था

आरम्भ | यत्न | प्राप्त्याशा | नियताप्ति | फलागम

उपाय

बीज | पताका | प्रकरी | बिन्दु | कार्य

पताकास्थानक

प्रथम | द्वितीय | तृतीय | चतुर्थ

सन्धि

मुख	प्रतिमुख	गर्भ	विमर्श	निर्वहण
१. उपक्षेप	१. विलास	१. संग्रह	१. द्रव	१. सन्धि
२. परिकर	२. धूनन	२. रूप	२. प्रसङ्ग	२. निरोध
३. परिन्यास	३. रोध	३. अनुमान	३. सम्फेट	३. ग्रन्थन
४. समाहिति	४. सान्त्वन	४. प्रार्थना	४. अपवाद	४. निर्णय
५ उद्भेद	५. वर्णसंहृति	५. उदाहृति	५. छादन	५. परिभाषा
६. करण	६. नर्म	६. क्रम	६. द्युति	६. उपास्ति
७. विलोभन	७. नर्मद्युति	७. उद्वेग	७. खेद	७. कृति
८. भेदन	८. ताप	८. विद्रव	८. विरोध	८. आनन्द
९. प्रापण	९. पुष्प	९. आक्षेप	९. संरम्भ	९. समय
१०. युक्ति	१०. प्रगमन	१०. अधिबल	१०. शक्ति	१०. परिगूहन
११. विधान	११. वज्र	११. मार्ग	११. प्ररोचना	११. भाषण
१२. परिभावना	१२. उपन्यास	१२. असत्याहरण	१२. आदान	१२ पूर्वभाव
	१३. अनुमर्पण	१३. तोटक	१३. व्यवसाय	१३. काव्यसंहार
				१४. प्रशस्ति

तृतीय अध्याय

नायक
(स्वभाव के अनुसार भेद)

- धीरोद्धत
- धीरोदात्त
- धीरललित
- धीरशान्त

नायक
(नायिका के प्रति व्यवहार आदि की दृष्टि से भेद)

- अनुकूल
- दक्षिण
- शठ
- धृष्ट

नायक
(प्रकृति-भेद के अनुसार)

- उत्तम
- मध्यम
- अधम

नायक
(जन्म की दृष्टि से भेद)

- दिव्य
- अदिव्य
- दिव्यादिव्य

उत्तम कोटि के नायक के आठ सात्विक गुण

- तेज
- विलास
- माधुर्य
- शोभा
- स्थैर्य
- गाम्भीर्य
- औदार्य
- ललित

विदूषक

- लिङ्गी
- द्विज
- राजजीवी
- शिष्य

नायिका

- कुलजा
- दिव्या
- क्षत्रिया
- पण्यकामिनी
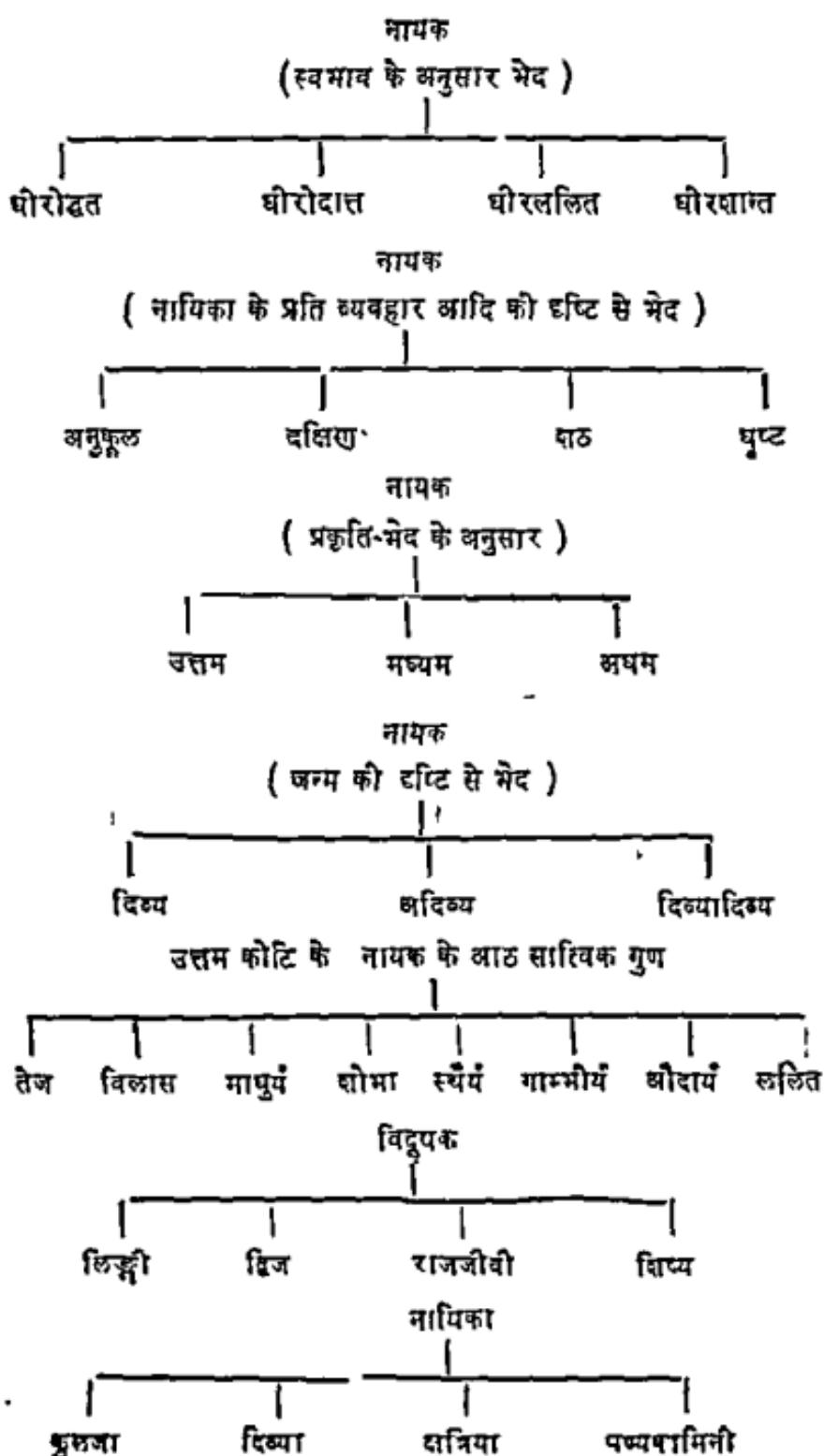
तृतीय अध्याय

नायिका
(अवस्था तथा कामभावना के आधार पर वर्गीकरण)

- मुग्धा
- मध्या
  - धीरा
  - अधीरा
  - धीराधीरा
- प्रगल्भा
  - धीरा
  - अधीरा
  - धीराधीरा
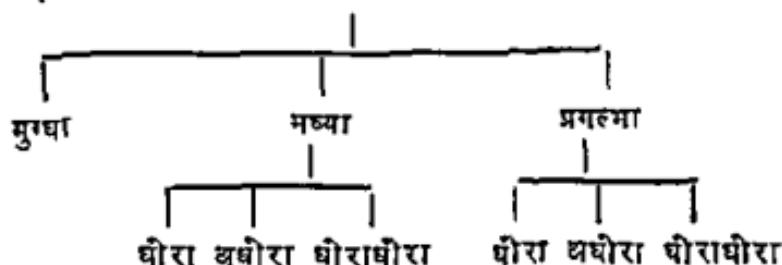
नायिका
(नायक के सम्बन्ध के आधार पर वर्गीकरण)

- स्वीया
- अन्या
- सामान्या
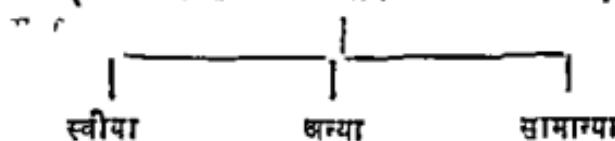
नायिका
(प्रकृति के अनुसार वर्गीकरण)

- उत्तमा
- मध्यमा
- अधमा
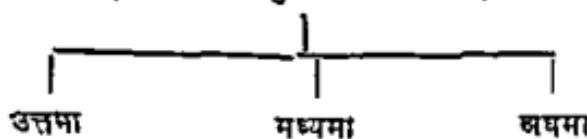
नायिका
(अवस्था (Situations) के आधार पर वर्गीकरण)

१. प्रोषितप्रिया
२. विप्रलब्धा
३. खण्डिता
४ कलहान्तरिता
५. विरहोत्कण्ठिता
६. वासकसज्जा
७. स्वाधीनभर्तृका
८. अभिसारिका

तृतीय अध्याय

नायिका के अलंकार

- अङ्गज
  1. भाव
  2. हाव
  3. हेला
- स्वभावज
  1. विभ्रम
  2. विलास
  3. विच्छित्ति
  4. लीला
  5. विब्वोक
  6. विहृत
  7. ललित
  8. कुट्टुमित
  9. मोट्टायित
  10. किलकिञ्चित्
- अयत्नज
  1. शोभा
  2. कान्ति
  3. दीप्ति
  4. माधुर्य
  5. औदर्य
  6. धैर्य
  7. प्रागल्भ्य

चतुर्थ अध्याय

वृत्ति

- भारती
  1. आमुख
  2. प्ररोचना
  3. वीथी
     1. व्याहार
     2. अधिवल
     3. गण्ड
     4. प्रपञ्च
     5. त्रिगत
     6. छल
     7. असत्प्रलाप
     8. वाक्केलि
     9. नालिका
     10. मृदव
     11. उद्घात्यक
     12. अवलगित
     13. अवस्पन्दित
- सात्वती
  1. संलापक
  2. उत्थापक
  3. साङ्घात्य

  आदि
- कैशिकी (नर्म)
  1. नर्म
  2. नर्मस्फिञ्ज
  3. नर्मस्फोट
  4. नर्मगर्भ
- आरभटी

चतुर्थ अध्याय

उत्तमाङ्ग

|

१. आकम्पित
२. कम्पित
३. धुत
४. विधुत
५. परिवाहित
६. आधूत
७, अवधूत
८. अंचित
९. निहंचित
१०. परावृत्त
११. उत्क्षिप्त
१२. अधोगत
१३. ललित

चतुर्थ अध्याय

दृष्टि

१. कान्ता
२. भयानका
३. हास्या
४. करुणा
५. अद्भुता
६. रौद्रा
७. वीरा
८. बीभत्सा
९. स्निग्धा
१०. हृष्टा
११. दीना
१२. क्रुद्धा
१३. दृप्ता
१४. भयान्विता
१५. जुगुप्सिता
१६ विस्मिता
१७. शून्या
१८. मलिना
१९. श्रान्ता
२०. लज्जान्विता
२१. ग्लाना
२२. शङ्किता
२३. विषण्णा
२४. मुकुला
२५. कुञ्चिता
२६. अभितप्ता
२७. जिह्मा
२८. ललिता
२९. वितर्किता
३०. अर्द्धमुकुला
३१. विभ्रान्ता
३२. विप्लुता
३३. आकेकरा
३४. विकोशा
३५. त्रस्ता
३६. मदिरा

नेत्रतारक

१. भ्रमण
२. वलन
३. पातन
४. चालन
५. प्रवेशन
६. विवर्तन
७. समुद्‌वृत्त
८. निष्काम
९. प्राकृत

अक्षिपुट

१. उन्मेष
२. निमेष
३. प्रसृत
४. कुञ्चित
५. सम
६. विवर्तित
७. स्फुरित
८. पिहित
९. विताड़ित

भ्रू

१. उत्क्षेप
२. पातन
३. भ्रुकुटी
४. चतुर
५. कुञ्चित
६. रेचित
७. सहज

चतुर्थ अध्याय

नासिका

१. नता
२. मन्दा
३. विकृष्टा
४. सोच्छ्वासा
५. विकुञ्चिता
६. स्वाभाविका

गण्ड

१. क्षाम
२. फुल्ल
३. विस्तरित
४. कम्पित
५. कुञ्चित
६. सम

चिबुक

१. कुट्टन
२. खण्डन
३. छिन्न
४. चुक्कित
५. लोहित
६. सम
७. दष्ट

ग्रीवा

१. समा
२. नता
३. उन्नता
४. त्र्यस्रा
५. रेचित
६. कुञ्चित
७. अञ्चित
८. वलिता
९. विवृत्ता

हाथ

१. पताका
२. त्रिपताका
३. कर्तरीमुख
४. अर्धचन्द्र
५. अरालहस्त
६. शुकतुण्ड
७. मुष्टि हस्त
८. शिखर
९. कपित्थ
१०. खटकामुख
११. सूचीमुख
१२. पद्मकोश
१३. सर्पसिरा
१४. मृगशीर्षक
१५. अलपल्लव
१६. चतुर
१७. भ्रमर
१८ हंसवक्त्र
१९. हंसपक्ष
२०. संदेह
२१. ऊर्णनाभ
२२. ताम्रचूड आदि

चतुर्थ अध्याय

संयुक्त हस्त
1. अञ्जलि
2. कपोत
3. कर्कट
4. स्वस्तिक
5. खटकावर्धमानक
6. निषध
7. दोल
8. पुष्पपुट
9. मकर
10. *गजदंत*
11. अवहित्थ
12. वर्धमान

पार्श्वभाग
1. नत
2. समुन्नत
3. प्रसरित
4. विवर्तित
5. अपसृत

वक्ष
1. आभुग्न
2. निर्भुग्न
3. प्रकम्पित
4. उद्वाहित
5. सम

उदार
1. क्षाम
2. खल्ल
3. पूर्ण

उरु
1. कम्पन
2. वलन
3. स्तम्भन
4. *उद्वर्तन*
5. विवर्तन

कटि
1. छिन्ना
2. निवृत्ता
3. रेचिता
4. प्रकम्पिता
5. उद्वाहित

जङ्घा
1. आवर्तित
2. नत
3. क्षिप्र
4. उद्वाहित
5. परिवृत्त

पाद
1. उद्घटित
2. सम
3. अग्रतलसञ्चर
4. अञ्चित
5. कुञ्चित

गति
1. धीरा
2. *मध्यमा*
3. द्रुता

नेपथ्य
1. पुस्त
2. अलङ्कार
3. अङ्गरचना
4. सञ्जीव

पञ्चम अध्याय

विभाव
- आलम्बन
  - विषय
  - आश्रय
- उद्दीपन
  - विषयगत
  - बहिर्गत

अनुभाव

१. वेपथु
२. स्तम्भ
३. रोमाञ्च
४. स्वरभेद
५. अश्रु
६. मूर्च्छा
७. स्वेद
८. वैवर्ण्य

व्यभिचारीभाव

१. निर्वेद
२. ग्लानि
३. अपस्मार
४. शङ्का
५. असूया
६. मद
७. श्रम
८. चिन्ता
९. चापल
१०. आवेग
११. मति
१२. व्याधि
१३. स्मृति
१४. धृति
१५. अमर्ष
१६. मरण
१७. मोह
१८. निद्रा
१९. सुप्त
२०. औग्र्य
२१. हर्ष
२२. विषाद
२३. उन्माद
२४. दैन्य
२५. व्रीडा
२६. त्रास
२७. तर्क
२८. गर्व
२९. औत्सुक्य
३०. अवहित्था
३१. जाड्य
३२. आलस्य
३३. विबोध

पञ्चम अध्याय
स्थायीभाव
१. रति
२. हास
३. शोक
४. क्रोध
५. उत्साह
६. भय
७. जुगुप्सा
८. विस्मय
९. शम
रस-दोष
१. अनौचित्य
२. अङ्गों की उग्रता
३. मुख्य रस की पुष्टि का अभाव
४. रस का अधिक विस्तार
५. प्रधान रस का विस्मरण
षष्ठ अध्याय
रस
शृङ्गार हास्य करुण रौद्र वीर भयानक वीभत्स अद्भुत शान्त
शृङ्गार रस
(नायक-नायिका के सम्बन्ध के आधार पर)
सम्भोग
विप्रलम्भ
मान प्रवास शाप इच्छा विरह
हास्य रस
(प्रकृतियों के आधार पर वर्गीकरण)
स्मित हसित विहसित उपहसित अपहसित अतिहसित
वीर रस
युद्धवीर धर्मवीर दानवीर गुणवीर प्रतापवीर आवर्जनवीर
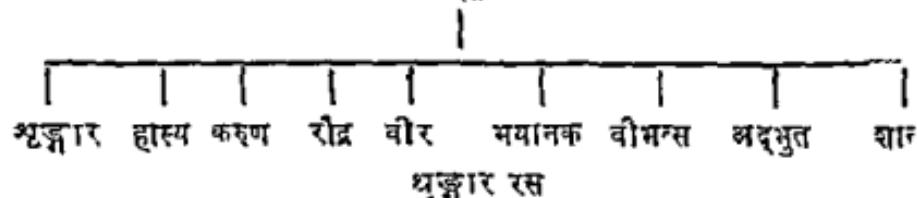
सहायक ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण : व्यास—खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९२०
अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस सिटी, वि० स० १९९२
अभिनवभारती : अभिनवगुप्त—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, १९५६ ई०
अलंकार कौस्तुभ : कवि कर्णपूर
इण्डियन थियेटर : चन्द्रभानुगुप्त—मोतीलाल बनारसीदास, १९५४ ई०
उत्तररामचरित : महाकवि भवभूति—बुकलैण्ड प्रेस कलकत्ता, १९१५ ई०
ऐन एसे आन ड्रैमेटिक पोयजी—जॉन ड्राइडेन
काव्यादर्श : दण्डी—प्रकाशक के. राय., १७६, विवेकानन्द रोड, कलकत्ता
काव्यानुशासन : हेमचन्द्र—निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९०१ ई०
काव्यप्रकाश : मम्मट—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९५० ई०
काव्यप्रदीप : गोविन्द—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१२ ई०
काव्यमीमांसा : राजशेखर—ओरियण्टल इंस्टीच्यूट बड़ोदा, १९३४ ई०
काव्यालङ्कार : वामन—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण
कुमारसम्भव : कालिदास—त्रावनकोर गवर्नमेण्ट प्रेस, १९१४ ई०
गाथा सप्तसती : सातवाहन—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९११ ई०
टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा : डा० आर. मनकद—उर्मि प्रकाशन मन्दिर, कराची १९३६ ई०
ट्रांसलेशन ऑफ दि नाट्यशास्त्र : एम० घोष
डिसकोर्स ऑफ दि इंग्लिश स्टेज : ऑर० फ्लैकनो
थियोरी ऑफ ड्रामा : ए. निकोल—जार्ज. जी. हैरप ऐण्ड क०, १९३७ ई०
थियेटर ऑफ हिन्दूज : एच० एच० विल्सन ऐण्ड अदर्स—सुशीलगुप्त लिमिटेड, १९५५ ई०
दशरूपक : धनञ्जय—गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९१४ ई०
दि लाज् ऐण्ड प्रैक्टिस ऑफ् संस्कृत ड्रामा : एस० एन० शास्त्री—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६१ ई०
नम्बर ऑफ रसाज् . वी. राघवन—अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९४० ई०
नाटक की परख : डा० एस० पी० खत्री—साहित्यभवन प्राइवेट लिमिटेड, १९५९ ई०
नाट्य कला : रघुवंश—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१ ई०
नञ्जराजयशोभूषण : अभिनव कालिदास—ओरियण्टल इंस्टीच्यूट बड़ोदा, १९३० ई०

नागानन्द श्री हर्षदेव—त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज, १९१७ ई०
नाटकलक्षणरत्नकोश सागरनन्दिन्—आक्सफोर्ड युनिवर्सटी प्रेस, १९३७ ई०
नाट्शास्त्र भरत—विद्याविलास प्रेस १९२९ ई०
नाट्यदर्पण रामचन्द्र—गुणचन्द्र—ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट बडौदा, १९५९ ई०
निर्भयभीमव्यायोग रामचन्द्र—धर्माभ्युदय प्रेस बनारस, वीर स० २४३७
पोयटिक्स अरिस्टाटिल—एवरीमैस लाइब्रेरी, १९३४ ई०
प्रैक्टिकल क्रिटीसिज्म आई० ए० रिचड्स
भावप्रकाश शारदातनय—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, १९३० ई०
महावीरचरित भवभूति—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१० ई०
मिल्टन वर्सेस साउदे ऐण्ड लैण्डार डिक्विन्सी
मृच्छकटिक शूद्रक—आर० डी० करमरकर, दामोदर विला, पूना ४
महाभारत व्यास—गीता प्रेस, गोरखपुर
मालविकाग्निमित्र कालिदास—दामोदर विला, पूना ४, १९५० ई०
मुद्राराक्षस विशाखदत्त—श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवनम् बनारस, १९४९ ई०
रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण—डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित—राजकमल प्रकाशन, १९६० ई०
रसरत्नप्रदीपिका अल्लराज—भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४५ ई०
रसतरगिणी भानुदत्तमिश्र
रघुवश कालिदास—चौखम्बा सस्कृत सीरीज, १९२६ ई०
रत्नावली श्रीहर्षदेव—गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी, बम्बई, १९२५ ई०
रसार्णवसुधाकर *शिंगभूपाल—त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज*, १९१६ ई०
व्यक्तिविवेक महिमभट्ट—चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस, १९३६ ई०
विक्रमोर्वशीयम् कालिदास—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५ ई०
वेणीसहार भट्टनारायण—निर्णयसागर प्रेस बम्बई १०२५ ई०
सगीतरत्नाकर शार्ङ्गदेव—आनन्दाश्रम मुद्रणालय
सकालोजिकल स्टडीज इन रस डा० राकेश गुप्त—चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी, प्रथम सस्करण
शृगारप्रकाश भोजदेव—मद्रास १९४९ ई०
सरस्वतीकण्ठाभरण भोजदेव—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०
साहित्यदर्पण विश्वनाथ—प्रकाशक प० श्री आशुबोध विद्याभूषण तथा प०श्री नित्यबोध विद्यारत्न